THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

ॐ

मध्यस्थवाद—ग्रन्थमालायाः

प्रथमं पुष्पम्

न्यायतंत्रशतपत्रभानवे लोकलोचनसुधाञ्जनात्विषे ॥
पापशैलशतकोटिमूर्त्तये सज्ज्ञानाय सततं नमोनमः ॥

स्वामी दयानन्द

और

जैनधर्म ।

रचयिता—

पण्डित—हंसराज शास्त्री—पञ्चनदीयः

विक्रम संवत १९७२ ई. सन् १९१५

मूल्य आठ आना.

Printed by
Matoobhai Bhaidas at K. A's. the Surat "Jain Printing Press" Khapatia Chakla, Surat.

Published by
'andit Hunsraj (son of Pandit Prabhudayal) Shastri of Jamadar Bazar Amritsar (Punjab.)
from Gopipura Surat.

"आमुखम्"

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

संसारमें जितने मत या सम्प्रदाय देखनेमें आते हैं उनमें कितनीक बातें तो ऐसी हैं, जिनका सबसे अविरोध है और कितनेक नियम ऐसे भी हैं, जो कि एक दूसरेसे विरुद्ध हैं । एवं कितनेक सिद्धान्तोंको सर्वसम्मत होनेपर भी उनकी मान्यता प्रत्येक मतमें भिन्न भिन्न प्रकारकी देखी जाती है ।

विचारपूर्वक परामर्श करनेसे यह नियम कुछ स्वाभाविक और आवश्यक भी प्रतीत होता है, कोई महान पुरुष जिस वक्त किसी मत या सम्प्रदायकी स्थापना करता है उस वक्त वह उसके लिए कितनेक असाधारण नियम भी अवश्य बनाता है, जिससे अन्यमतोंकी अपेक्षा उसमें भिन्नता प्रतीत हो । स्वीकृत नियमोंकी रक्षा तथा उनका गौरव बढ़ानेके लिए अन्यमतोंके कतिपय सिद्धान्तों (जो कि उसके नियमोंसे प्रतिकूल मालूम होते हों) का वह प्रतिवाद भी करता है । किसी दृष्टिसे यह बात उसके लिए उचित भी है, अन्यथा उसका संसार पर कुछ प्रभाव भी नहीं पड़ता; परंतु उसकी भी कोई मर्यादा होनी चाहिए । मर्यादाका उलंघन करके जो प्रतिवाद किया जाता है वह निस्सन्देह सभ्यतासे गिरा हुआ और लाभके बदले प्रत्युत हानिकारक हो जाता है । वृष्टि सस्यवृद्धिमें जितनी उपयोगी है, उससे अधिक हानि अतिवृष्टिसे होती है ।

विश्वभरमें जितने भी मत मतान्तर हैं उनमें सत्य कौन है और मिथ्या कौन है इसका निर्णय करना कोई गुड़ियोंका खेल नहीं है। इसके लिए जितने विशाल पांडित्य और परामर्शकी आवश्यकता है उससे अधिक असंकीर्ण विशद और निष्पक्ष विचारप्रिय हृदयकी जरूरत है. इस लिए किसी भी धर्म या सम्प्रदायकी आलोचना करनेमें प्रवृत होनेवाले मनुष्यको अपने चारों तर्फ निरीक्षण अवश्य कर लेना चाहिए। परंतु वर्तमान समयका प्रवाह इससे कुछ विपरीत ही दृष्टिगोचर हो रहा है। आज एक साधारणसे साधारण बुद्धि रखनेवाला मनुष्य भी बड़े बड़े विद्वानों, महर्षियों तथा आचार्योंके विचारोंको भद्दे और मूर्खता भरे कहनेके लिए साहस करने लग जाता है! मामूली भाषा भी चाहे लिखनेका शहूर न हो परन्तु दर्शनोंके मीमांसक तो अवश्य बन जायँगे! सच पूछो तो ऐसे ही मनुष्य संसारमें द्वेषाग्निके मूल उत्पादक हैं। और ऐसे ही पुरुषोंके कारण भगवती भारत वसुंधरा अनेक यातनाओंको सहन करती है।

यद्यपि परस्पर एक दूसरेके खंडन मंडनकी शैली अर्वाचीन नहीं किन्तु दर्शनोंके प्रादुर्भावसे भी प्रथमकी है। दर्शनोंके समयमें तो वह अधिक उन्नतिको प्राप्त हुई पर उसके रूपमें विकृति नहीं हुई। सभ्यताके सिंहासन परसे उसे नहीं गिराया गया। उस समयकी तीव्रसे तीव्र आलोचनामें भी गौरवशून्य शब्दोंका विन्यास नहीं पाया जाता। सत्य कहा जाय तो वर्त्तमान समयमें भारतीय पूर्व महर्षियोंकी आलोचना शैलीका जीवित उदाहरण अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के ही लेख हैं। आजकल के मिथ्या धर्माभिमानी पंडितंमन्योंको उनसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए.

सज्जनो ! हम ऊपर लिख चुके हैं कि खंडन मंडनकी पद्धति कुछ नवीन नहीं किन्तु प्राचीन है स्वामी शंकराचार्यजी तथा अन्य कितनेक विद्वानोंके समय तक वह अधिकांश प्रशस्त ही रही मगर वर्तमान समयमें उसे जो अधिक भयानक रूप प्राप्त हुआ है इसका कारण हमारे वर्तमान समयके महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी हैं ! यह बात प्रस्तुत पुष्पके पढ़नेसे स्फुट हो जायगी ! स्वामी दयानंद सरस्वतीजीने अन्य मतोंके खंडनमें बहुत असंकीर्णतासे काम लिया है, उसपर भी जैनधर्मके विषय मेंतो उसकी मात्रा और भी अधिक बढ़ गई है। स्वामीजीके उक्त विचार कहांतक सत्य और आदरणीय हैं इसी विचारको प्रस्तुत "मध्यस्थ वाद ग्रंथमाला" के "स्वामी दयानन्द और जैनधर्म" नामके इस प्रथम पुष्पमें दर्शाया गया है। स्वामीजीके संबंधमें जैनधर्मके सिद्धान्तानुसार हमने जिन बातोंका उल्लेख किया है उनके उचितानुचितपनेकी मीमांसा करनी पाठकोंका काम है. हमे इसमें हस्तक्षेप करनेका अधिकार नहीं। हमने तो अपने विचारोंको सभ्य संसारके समक्ष उपस्थित करदिया है। इसके सिवा उक्त ग्रन्थमालाके और भी कितनेक पुष्प लिखने का हमारा विचार है। उनमें अधिकांश दार्शनिक विषयके ही लेख रहेंगे इस लिए प्रस्तुत पुष्प में हमने जहां कहीं " इस विषय पर हम कहीं अन्यत्र विचार करेंगे, इसका विस्तार पूर्वक सप्रमाण वर्णन कहीं अन्यत्र किया जायगा" ऐसा लिखा हुआ हो उससे पाठक यही समझें कि उसका उल्लेख उक्त ग्रंथमालाके किसी अन्य पुष्पमें किया जायगा. पाठकोंको इतना अवश्य स्मरण रहे कि अन्य पुष्पोंमें भी जो दार्शनिक विषयोंका उल्लेख किया जायगा वह हठवादको सर्वथा अलग रखकर ही किया जायगा।

सज्जनो! प्रस्तुत पुष्पमें जो कुछ लिखा गया है वह किसी पर आक्षेप करने या किसीका दिल दुखानेके उद्देश्यसे नहीं लिखा गया और नाहीं हमारा यह सर्वथा विचार है। इसपर भी यदि किसीके हृदयको दुःख पहुंचे तो हम विवश हैं वह कृपया हमे क्षमा प्रदान करें।

अब हम इस लेखको यहांपर ही समाप्त करते हुए अपने चिरस्मरणीय पितृकल्प श्रीयुत पंडित हीरालालजी शर्मा और परममित्र श्रीयुत लाला चूनी लालजीको सहस्रशः धन्यवाद देते हैं कि जिनकी कृपासे हमें इस प्रकारके ग्रंथोंके लिखनेका सौभाग्य तथा साहस प्राप्त हुआ है।

अंतमें विद्वानोंसे हमारी नम्र प्रार्थना है कि प्रस्तुत पुष्पमें यदि कोई भूल या त्रुटी रह गई हो तो उसके लिए वे कृपया हमें सूचना दें ताकि आगामी संस्करणमें वह दूर की जाय।

विजयदशमी—विक्रम १९७१
बम्बई.

विमल सहचर "हंस"

॥ ॐ श्रीवि   नमः ॥

॥ मध्यस्थवादग्रंथमालायाः प्रथमं पुष्पम् ॥

"स्वामीदयानन्द और जैनधर्म"

सत्यं ज्ञानमनन्तं य-स्मिन्ध्येऽगीयत श्रुतौ। आत्मानन्दं गतद्वन्द्वं, विश्रुतं तं श्रयामहे ॥१॥
मनस्साधु वचस्साधु, तनुर्यस्य महात्मनः। शान्तये सर्वभूतानां, तं श्रियं भक्तितो नुमः ॥२॥

वर्तमान आर्यसमाजके नेता " स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी " बड़े नामांकित पुरुष हो गये हैं! इनका जीवन वैदिक धर्मकी उन्नतिमें ही समाप्त हुआ है! संसारमें ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े निकलेंगे, जिन्होंने स्वामीजी की तरह वैदिक धर्म में असीम प्रेम बतलाया हो! वैदिक धर्म पर आते हुए आक्षेपों के निराकरण में स्वामीजीने अपनी शक्ति से भी अधिक परिश्रम कर दिखलाया है! यह बात उनके रचे हुए पुस्तकों से विदित होती है! स्वामीजी जैसे साहसी पुरुष संसारमें बहुत कम हैं! इसीलिये वर्त्तमान जनसमाजमें उन्हें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई!

स्वामीजीके सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रंथो के देखनेका हमे बहुत शौक था, और अब भी है! इनपर विचार करनेके लिये यथाशक्ति परिश्रम भी किया है! स्वामीजी के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा सत्यार्थप्रकाश कुछ अधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ चतुर्दश (१४) समुल्लासोंमें विभक्त है, जिसमें से इससमय, बारवें समुल्लासके संबंधमें हमे कुछ कहना है. हमारा आशय स्वामीजी

के अर्थोंका खंडन, या उनकी भूलें निकालनेका नहीं है। किंतु हमारा अभिप्राय स्वामी " दयानन्द " और " जैनधर्म " के संबंधमें अपने निष्पक्ष विचारों को मध्यस्थ जनसमाजके समक्ष प्रकट करनेका है, इसलिये हम अपने पाठकोंसे सविनय निवेदन करते हैं कि, वे हमारे मध्यस्थ विचारों को मध्यस्थ दृष्टिसे ही अवलोकन करें.

सज्जनो ! स्वामी " दयानन्द सरस्वतीजी " बड़े सत्य-वक्ता और निर्भय पुरुषथे ! वैदिक धर्ममें इनकी असीम श्रद्धा अभीतक लोगोंको मुग्ध कर रही है । आज भारत वर्षके कोने कोनेमें वैदिक धर्मका नाद सुनाई देना स्वामीजी के ही उद्योग का फल है ! स्वामीजीका जीवन निस्संदेह सत्यता और परो-पकारताके संचेमें ढला हुआ था ! वर्तमान आर्यजनतामें इनके अधिक सन्मान का यह भी एक मुख्य कारण है । स्वामीजी हमारी श्रद्धाके मुख्य भाजन हैं । हमसे जितनी इनकी प्रशंसा हो सके थोड़ी है ! परंतु विचार शून्य अत्यंत श्रद्धालुपना भी गुणके बदले दोष रूप हो जाता है । दृष्टिरागको छोड़कर गुणा-नुराग ही उन्नति का मजबूत पाया है ! अतः "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि" इस न्याय के अनुसार निष्पक्षभावसे अपने विचारोंको जनसमाजमें प्रकाशित करना मनुष्यका प्रथम कर्त्तव्य है, इसलिये स्वामीजी जैसे पवित्रात्माके प्रशस्त लेखोंकी मीमांसाके लिये कर्त्तव्य परायण अपनी लेखिनीको श्रम देना अहो भाग्य समझते हुए हम प्रस्तुत विषयपर विचार करते हैं. हम लिख चुके हैं कि, स्वामी " दयानन्द " सरस्वतीजीकी वैदिक धर्म प्रियता, सत्य परायणता, और निष्पक्षताका नाद भारत वर्षके अतिरिक्त अन्य देशोंमें भी खूब बजा और बज रहा है । वास्तविकमें ऐसे महात्माके जीवनमें इस बातक

होना आवश्यक ही है । क्यों कि निष्पक्षता और सत्य परायणता महात्माके जीवनका एक अनूठा भूषण है ! परंतु स्वामीजी महाराजके ग्रंथोंका जब हम अन्वेषण करते हैं तब हमारी यह आशा निराशाके रूपमें परिणत हो जाती है !

स्वामीजीके ग्रंथोंमें बहुतसी बातें ऐसी भी दृष्टिगोचर होती हैं, जो इनके प्रशस्त जीवनको धब्बा लगा रही हैं । इनके निष्पक्ष और सत्यमय शुभ्र जीवनमें कालिमा रूप हो रही हैं ! इनके स्वर्णमय जीवनको सीसेकी तरह कलंकित कर रही हैं ! उदाहरणार्थ थोड़ेसे वचन नीचे लिखते हैं.

"स्वामीजीकी मधुर भाषाका नमूना"

(१) " जो जीव ब्रह्मकी एकता जगत् मिथ्या शंकराचार्यका निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियोंके खंडनके लिये उस मतका स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है " [पृष्ठ २८७]

(२) " आंखके अंधे गांठके पूरे उन दुर्बुद्धि पापी स्वार्थी " [पृष्ठ २१]

(३) " क्यों भूंसता है " [पृष्ठ १२१]

(४) " वाहरे झूठे वेदांतियो " [पृष्ठ २३५]

(५) " गडरियेके समान झूठे गुरु " [पृष्ठ २८०]

(६) " जिसके हृदयकी आंखे फुट गई हों [पृष्ठ २९२]

(७) "उन निर्लज्जोंको तनिक भी लज्जा नहीं आई" [पृष्ठ २९८]

(८) " मुनिवाहन भंगी कुलोत्पन्न यावनाचार्य यवन कुलोत्पन्न शठकोपनामक कंजर" [पृष्ठ २९९]

(९) " अंधे धूर्त्त " [पृष्ठ ३०५]

(१०) "भठियारेके टट्टू कुंभारके गधे" (पृष्ठ ३१२)

(११) "ऐसे गुरु और चेलोंके मुखपर धूक और राख पडे" (पृ. ३२६)

(१२) "भागवतके बनानेवाले लाल बुझक्कड क्या कहना है तुझको ऐसी ऐसी मिथ्या बातें लिखनेमें तनिक भी लज्जा और शरम न आई निपट अंधा ही बन गया ! भला इन झूठ बातोंको वे अंधे पोप और बाहिर भीतरकी फूटी आखोंवाले उनके चेले भी सुनते और मानते हैं ! इन भागवतादिके बनाने हारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये वा जन्मते समय मर क्यों न गये ?" [पृष्ठ ३३०]

(१३) "तुम भाट और खुशामदी चारणोंसे भी बढकर गप्पी हो" [पृ. ३३१]

(१४) "भांड धूर्त्त निशाचर वत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं" (पृष्ठ ४०२)

(१५) "सबसे वैर विरोध निंदा ईर्षा आदि दुष्ट कर्म रूप सागरमें डुबानेवाला जैन मार्ग है जैसे जैनी लोग सबके निंदक हैं वैसा कोई भी दूसरे मतवाला महानिंदक और अधर्मी न होगा !" [पृष्ठ ४३१]

(१६) "पाखंडोंका मूल ही जैन मत है" [पृष्ठ ४४०] इत्यादि—(सत्यार्थ प्रकाश सन् १८८४)

प्यारे पाठको ! स्वामीजी महाराजकी इस मनोहर वाक्य रचनाके विषयमें यदि हम कहें तो क्या कहें !—

" विद्या हि विनयावाप्त्यै, सा चेदविनया वहा !
किं कुर्म्मः? कुत्र वा यामः?, सलिलादग्निरुत्थितः! ॥१॥"

भवकती हुई अग्निको शांत करनेके लिये जलका उपयोग किया जाता है, यदि जलसे ही अग्नि निकलने लगे तो फिर उपायांतर क्या ? दुःख केवल इतनी बातका है कि यह ललित लेखमाला उन महात्माकी है जिनका प्रशस्त जीवन उन्नतिके अभिलाषियोंको अनुकरणीय समझा जाता है! अस्तु! अब हम पाठकोंका—स्वामीजी महाराजकी लेखमालासे उद्धृत किये हुए वाक्योंमेंसे सबसे प्रथम वाक्यपर थोड़ासा ध्यान खेंचते हुए अपने प्रस्तुत विषयका प्रारंभ करते हैं।

सज्जनो ! सत्य एक ऐसी वस्तु है कि, जिसका सादृश्य संसारभरके किसी पदार्थमें भी नहीं है ! सत्यकी मनुष्यके लिये इतनी आवश्यकता है जितनी कि प्रकाशके लिये सूर्यकी ! इसी लिये हमारे श्रद्धेय स्वामीजी महाराजने " सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागमें सदैव उद्यत रहना चाहिये " इस द्वितीय नियम रूप सदुपदेश से मनुष्य समुदायको बहुत ही अनुगृहीत किया है ! ऐसे सदुपदेष्टा महात्माका हम जितना आभार माने उतना थोड़ा है ! परंतु जब हम स्वामीजीके "जो जीव ब्रह्मकी एकता जगत् मिथ्या शंकराचार्यका निजमत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियोंके खंडन के लिये उस मतका स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है" इस उपदेशको श्रवण करते हैं तो हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, स्वामीजी महाराजकी सत्यता और निष्पक्षता घरकी चार दीवारी (कोठडी) मात्रमें ही पर्याप्त है। यदि दूसरेको परास्त करनेके लिये असत्य पक्षका अवलंबन भी श्रेयस्कर है, तबतो (क्षमा कीजिये !) औरंगजेबी तलवारको दोषी ठहराना निरर्थक है ! स्वामीजीके इस उपदेशसे सत्यासत्य, धर्माधर्म, सदाचार दुराचार, प्रकाश और अंधकार आदिकी मीमांसा

करनी कठिन ही नहीं, बलकि असंभव है ! स्वामीजी जैसे समाजनेता ऐसा उपदेश करें, इससे बढ़कर और क्या दुःखकी बात हो सकती है? सत्य है ! जहां प्रकाश है वहां उसकी तहमें अंधकार भी अपना आसन जमाये बैठा है ! उद्यानमें जहां मोदजनक आमोदसे भरपूर विकसित पुष्प समुदाय दर्शकोंको आनंद देता है, वहांपर उनके साथ चिपके हुए मर्मवेधी तीक्ष्ण कांटेभी हाथ फैलाये अपनी घातमें बैठे रहते हैं:! अस्तु ! अब हम प्रकृत विषयकी तर्फ अपने पाठकोंके ध्यानको आकर्षित करतेहैं।

"सत्यार्थ प्रकाश" के बारवें समुल्लासमें "स्वामीजी" ने चारवाक (नास्तिक) बौद्ध और जैनमतका खंडन लिखा है ! उसमें भी चारवाक और बौद्धमतका बहुत संक्षेपसे खंडन करके अवशिष्ट भागमें जैनमतकी ही समीक्षा की है ! हम भी यहांपर "स्वामीजी" के लेख क्रमके अनुसार ही अपने विचारोंको प्रस्तुत करते हैं.

'सत्यार्थप्रकाश सन् १८८४. वैदिकयंत्रालयप्रयाग'

[क]

स्वा० द० स०—चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैनभी जगत्की उत्पत्ति स्वभावसे मानते हैं. (पृष्ठ ४००)

[ख]

भांडधूर्त्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं उनकी धूर्त्तता है वेदोंकी नहीं. परंतु शोक है चारवाक आभाणक बौद्ध और जैनियोंपर कि इन्होंने मूल चार वेदोंकी संहिताको भी न सुना और न देखा और न किसी विद्वान्से पढ़ा इसीलिये नष्ट भ्रष्ट बुद्धि होकर ऊटपटांग वेदोंकी निंदा करने

लगे दुष्ट वाममार्गिओंकी प्रमाण शून्य कपोल कल्पित भ्रष्ट टीकाओंको देखकर वेदोंसे विरोधि हो कर अविद्यारूपी अगाध समुद्रमें जा गिरे. (पृष्ठ ४०२)

[ग]

सच तो यह है कि, जिन्होंने वेदोंसे विरोध किया और करते हैं और करेंगे वे अवश्य अविद्यारूपी अंधकारमें पड़के सुखके वदले दारुण दुःख जितना पावें उतना ही न्यून है. (पृष्ठ ४०२)

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषोंके किये शास्त्रोंका अपमान करता है उस वेदनिंदक नास्तिकको जातिपंक्ति और देशसे वाह्य कर देना चाहिये. (पृष्ठ ९३)

[घ]

ये चारवाकादि वहुतसी बातोंमें एक हैं परंतु चारवाक देहकी उत्पत्तिके और उसके नाशके साथ ही जीवका भी नाश मानता है पुनर्जन्म और परलोकको नहीं मानता एक प्रत्यक्ष प्रमाणके विना अनुमानादि प्रमाणोंको भी नहीं मानता. वौद्ध और जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण अनादि जीव और पुनर्जन्म परलोक और मुक्तिको भी मानते हैं इतना ही चारवाकसे वौद्ध और जैनियोंका भेद है. परंतु नास्तिकता वेद ईश्वरकी निंदा परमत द्वेष और ६ यतना जगतका कोई कर्त्ता नहीं इत्यादि बातोंमें सव एक ही हैं. यह चारवाकका मत संक्षेपसे दर्शा दिया. (पृष्ठ ४०३)

समालोचक--सज्जनो ! अन्य मतोंके प्रतिवादमें हमारे पूजनीय स्वामीजी महाराजने जिन मधुर शब्दोंका व्यवहार किया है, उन शब्दोंमेंसे कुछ तो आप ऊपर सुन ही चुके हैं

और अवशिष्ट आगेको सुनोंगे ! इनके विषयमें हमारा वारंवार लिखना " स्वामीजी "का एक प्रकारका अपमान करना है ! इसलिये " स्वामीजी "के संबंधमें इनके उचितानुचित पनेकी मीमांसाको हम आप पर ही छोड़ते हुए उक्त (क) (ख) आदि वर्णोंके क्रमसें ही हम " स्वामीजी "के प्रशस्त लेखोंपर मध्यस्थ भावसे दृष्टिपात करते हैं। हम अपने पाठकोंको इतना स्मरण फिर भी करवाये देते हैं कि, स्वामीजीके लेखका प्रतिवाद करनेका हमारा अभिप्राय नहीं है, हमारा उद्देश उनके लेखको यथार्थ समीक्षण करके मध्यस्थ संसारके समक्ष उपस्थित करनेका है. अस्तु ! अब प्रकृतका अनुसरण करते हैं।

[क]

स्वभावसे जगत्की उत्पत्ति मानना जैन शास्त्रके मंतव्यसे बाहिर है ! जैन शास्त्रोंका परिशीलन करनेवाले इस बातसें बखूबी परिचित हैं कि, स्वभाववादका जैनशास्त्रोंमें युक्ति पूर्ण इतना प्रतिवाद–खंडन किया है कि, " स्वामीजी " के ग्रंथोंमें उसका शतांशतो क्या ? सहस्रांश भी उपलब्ध नहीं होता ! फिर मालूम नहीं कि " और जैन भी जगतकी उत्पत्ति स्वभावसे मानते हैं " यह व्यर्थ निर्बल अपवाद जैनों पर लगाने और उसका प्रतिवाद करनेका " स्वामीजी " का क्या आशय था ? क्या ही अच्छा होता ! यदि जैन धर्मके मान्य ग्रंथोंमेंके दो चार प्रमाण भी लिख देते ! जिससे जैनोंकी मानी हुई स्वभावसे संसारोत्पत्तिके विषयमें किसीको संदेह ही न रहता ! क्या कोई समाजी विद्वान इस बातको सप्रमाण बतलानेकी कृपा करेंगे ?

" भांड धूर्त्त निशाचर वत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं उनकी धूर्त्तता है वेदोंकी नहीं " स्वामीजी महाराजका यह लेख ध्यानसे पढ़ने लायक है। महीधरादि टीकाकारोंको भांड धूर्त्त और निशाचर बतलानेका " स्वामीजी " ने हेतु दिया है कि, महीधरादि टीकाकारोंने मांस मदिरा तथा अन्य कइएक बीभत्स कार्योंका उल्लेख करके मिथ्या ही वेदोंपर कलंक लगाया है, वेदोंमें इन बातोंका अर्थात् मांसमदिरा के खानपान तथा अन्य बीभत्स व्यवहारोंका विधान सर्वथा नहीं। इसलिये वेदोंपर झूठा कलंक लगानेवाले महीधरादि टीकाकारोंको अवश्य भांड धूर्त और निशाचर कहना चाहिये!

प्यारे सभ्य पाठको! वेदोंमें मांस मदिरा आदिका विधान है या कि नहीं? यह विषय बहुत ही विवाद ग्रस्त है! इसकी मीमांसा करनी असंभव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है! अस्तु! इस विषयपर युक्ति पूर्ण विस्तारपूर्वक विचार हम कहीं अन्यत्र करेंगे, इस समय तो महीधरादि आचार्योंके विषयमें जो "स्वामीजी"का लेख है, उसको देखकर हमारे मनमें जो शंकायें उत्पन्न होती हैं उनको लिखते हैं।

" स्वामीजी " महाराजका " वेदोंमें मांस खाना कहीं नहीं लिखा " यह लेख इस बातको स्पष्ट बतला रहा है कि, वेदोंमें मांसादिका उल्लेख बतलानेवाले सभीके सभी भांड धूर्त्त और निशाचर हैं! मालूम होता है कि, इसी लिये उन्होंने "महीधरादि" इसमें आदि शब्द लिखा है! कदापि हम "स्वामीजी" की यह बात स्वीकार करें तो हमे आशा नहीं कि, वेदोंसे संबंध रखनेवाले जितने भी प्राचीन ग्रंथ हैं उनके रचयिता—आचार्य—ऋषिओंमेंसे कोई भी ऐसा निकले कि,

जिसके पास " स्वामीजी " महाराजका प्रदान किया हुआ "भांड धूर्त और निशाचर रूप स्वर्णपदक—चांद—" न निकले! क्योंकि, ऐतरेयसे लेकर यावत् ब्राह्मण ग्रंथ, कात्यायन श्रौतसे लेकर यावत् श्रौत सूत्र ग्रंथ, एवं आश्वलायनगृह्यसे लेकेर यावत् गृह्य सूत्र ग्रंथ, मनुस्मृतिसे लेके यावत् स्मृति ग्रंथ, महाभारतसे लेकर यावत् इतिहास ग्रंथोंमेंसे, ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं, जिसमें मांसकी चर्चा न पाई जावे! आज तक वेदोंके जितने प्राचीन भाष्य उपलब्ध होते हैं, उनमें हिंसाका उल्लेख स्पष्ट देखनेमें आता है! यजुर्वेदके भाष्यकर्त्ता महीधराचार्य पर मांस संबंधी उल्लेखका तथा अन्य बिभित्स व्यवहारोंके उल्लेखका दोष लगाना वृथा है; क्योंकि, महीधराचार्यके भाष्यका अक्षर अक्षर कात्यायन श्रौत सूत्रके आधार पर लिखा गया है! ब्राह्मणोंसे लेके पुराणेतिहास पर्यंत जितने भी ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उन सबमें वेदोंपर हिंसाका कलंक लगाया देखा जाता है! इस लिये " स्वामीजी " की आज्ञानुसार हमे विवश होकर उनके रचयिता—महर्षि व्यास, वसिष्ट, याज्ञवल्क्य, जैमिनि, वाल्मीक, कात्यायन, महीदास, कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य, सायण, माधव, रामानुजस्वामी, मध्वाचार्य, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, नीलकंठ, श्रीधर, मधुसूदन स्वामी, आनंदगिरि प्रभृति सभको ही भांडधूर्त्त और निशाचर कहना पड़ेगा! मगर क्षमा कीजिये हममें इतना साहस नहीं कि, उक्त महात्माओंका हम इन शब्दोंसे स्मरण कर सकें! हां! " स्वामीजी " भले ही इसके लिये समर्थ हों!!

" स्वामीजी " महाराज चार्वाक, आभाणक, बौद्ध और जैनोंपर शोक प्रकट करते हैं कि, " इन्होंने मूल चार वेदोंकी संहिताओंको न सुना! और न देखा! और न किसी

विद्वान्से पढ़ा ! इसलिये नष्ट भ्रष्ट बुद्धि होकर ऊटपटांग वेदोंकी निंदा करने लगे" इत्यादि—यद्यपि स्वामीजी महाराजका यह कथन (इनमें वेदोंके जाननेवाला कोई विद्वान नहीं है इत्यादि) संभव नहीं कि, उचित हो ! परंतु स्वामीजीके कथनको एक दफा चुपचाप सुन लेना हमारे लिये जरूरी है ! स्वामी "दयानंदजी" कहते हैं "दुष्ट वाम मार्गियोंकी प्रमाण शून्य कपोल कल्पित भ्रष्ट टीकाओंको देखकर वेदोंसे विरोधी होकर (चार्वाकादि) अविद्यारूपी अगाध समुद्रमें जा गिरे" इसका तात्पर्य यह है कि, वेदोंके जिन भाष्योंको देखकर चार्वाकादि वेदोंकी निंदा करते हैं, वे भाष्य वाम मार्गियोंके बनाए हुए हैं ! वाम मार्गियोंने अपने स्वार्थ वशसे वेदोंपर मद्य मांस तथा व्यभिचारका कलंक लगाया है ! परंतु वेदोंमें कहीं मांसका खाना नहीं लिखा ! । हमारा इसमें इतना ही कथन है कि, कदापि स्वामीजीके प्रतिपक्षी, स्वामीजीके विषयमें भी यही कहें कि, स्वामी "दयानंद" सरस्वतीजी वेदोंके वास्तविक रहस्यको नहीं समझें ! उन्होंने वृथा ही प्रमाण शून्य कपोल कल्पित अर्थ करके वेदोंकी सत्यताको नष्ट भ्रष्ट कर दिया है ! यदि स्वामीजी तनिक भी अपनी बुद्धिसे काम लेते तो ऐसा कदापि न कहते कि, वेदोंके भाष्य वाम मार्गियोंके बनाए हुए हैं ! स्वामीजी दूसरोंको अविद्यारूपी अगाध समुद्रमें गिराते हुए स्वयं ही अविद्याके गंभीर समुद्रमें गोते लगा रहे हैं ! जैसे कि, ब्राह्मण सर्वस्वके सम्पादक इटावा निवासी पंडित भीमसेन शर्माजी लिखते हैं कि, "जिस यज्ञादिक कर्ममें जिसप्रकार जिस पशुका बलिदान वेदमें कर्त्तव्य कहा है वहां वह कर्म हिंसा नहीं अधर्म नहीं किंतु वेदोक्त धर्म है" [ब्रा. भा. ४ अं. १ पृ. १२]

" वेदादी शास्त्रमें विहित मद्यमांस और मैथुनमें दोष नहीं है क्योंकि जिसका विधान किया गया वह धर्म कोटीमें आ गया। वाजपेय यज्ञमें सुराके ग्रहोंका विधान है। सौत्रामणि यज्ञमें सुरा नाम मद्यका विधान है। अग्निष्टोमादि यज्ञोंमें अग्निषोमीय आदि पशुका विधान और वहां शेष मांसभक्षणका भी विशेष विधान स्पष्ट रूपसे विस्तारके साथ किया गया है."

[ब्रा० भा० ४ अं. ५ पृ. १९४]

" हमारी तो राय यह है कि, जिन लोगोंका मत यह है कि, वेदमें मद्यमांसादि सर्वथा नहीं वा है तो प्रक्षिप्त है अथवा उसका अर्थ ही कुछ और है ऐसा माननेवाले सभी आर्यसमाजियोंके बड़े भाई वेद विरोधी है कि जो वेदके प्रत्यक्ष सिद्धांतको लौटना चाहते हैं" [ब्रा० भा० ४ अं. ५ पृ. १९५] तथा संस्कृतरत्नाकर के सम्पादक–न्यायशास्त्री–व्याकरणाचार्य पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी "स्मृतिविरोधपरिहार" नामकी पुस्तकमें लिखते हैं कि––"यह कौन प्रतिज्ञा कर सकता है कि यज्ञोंमें पशु हिंसा नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो जैन बौद्ध आदि संप्रदाय सनातन आर्यधर्मसे पृथक क्यों होते? हां आज कहीं के नव्यसमाजी वा कोई कोई वैष्णव भी किसीकी देखा देखी विना अपने धर्म समझे चाहे यह कहनेका साहस करें कि वेदोंमें पशु हिंसा नहीं है, परंतु वैष्णवों के आदि आचार्य भगवान् श्री रामानुजस्वामी " अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् " ३–१–२५ सूत्रके भाष्यमें स्पष्ट वेदमें पशु हिंसा विधिको स्वीकार करते हैं" [प्रकाशक अध्यक्ष–श्री सरस्वती भंडार––काशी पृष्ट. ५७]

एवं जिस प्रकार " स्वामीजी " महीधरादिके भाष्योंका अनादर कर रहे हैं, इसीप्रकार आजकलके बहुतसे

प्रतिष्ठित विद्वान् भी स्वामीजी के भाष्यको प्रमाणशून्य मनःकल्पित समझते हुए अनादरकी दृष्टिसे देखते हैं! स्वामी दयानंद और आजकलके विद्वानोंमें से निष्पक्ष और सत्यवक्ता कौन है ? इसका पता लगाना इतना ही कठिन है जितना कि गाढ़ अंधकारमें पड़ी हुई सूक्ष्म वस्तुका ! परंतु इस प्रकार इनका परस्पर दंगल करानेसे कुछ परिणाम निकले ऐसी अभी आशा नहीं ! इस लिये इस विषयपर सप्रमाण अपने विचारोंको विशेषरूपसे हम कहीं अन्यत्र प्रदर्शित करेंगे ।

[ग]

वेदोंके न माननेवालोंके बारेमें " सच तो यह है " इत्यादि लेखसे स्वामीजी महाराजने जो उदारता दिखलाई है वह, मध्यस्थ वर्गको अवश्य स्मरण रखने योग्य है ! वेदोंपर श्रद्धा न रखनेवालेको " स्वामीजी " एक तो यह आशीर्वाद देते हैं कि, " वह सुखके बदले दारुण जितना दुःख पावे उतना न्यून है " दूसरी आज्ञा उसके लिये यह है कि " उसको जाति पंक्तिसे निकालकर जिला वतन (देशपार) कर दिया जावे " यद्यपि स्वामीजी महाराजकी इस न्याय प्रियताके संबंधमें विशेष कहते हुए हमे संकोच होता है, परंतु इतना तो कहे बिना नहीं रहा जाता कि, यदि स्वामी " दयानंद " सरस्वतीके हाथमें कोई सत्ता होती तो बिचारे वेदोंके न माननेवालोंको वही सौभाग्य प्राप्त होता जो कि स्वामी शंकराचार्यजीके समयमें सुधन्वा राजाके द्वारा बौद्धोंको प्राप्त हुआ था ! "स्वामीजी" की शिक्षानुसार महमूद गजनवीने यदि भगवान सोमनाथके मंदिरको तोडा तो क्या बुराई की ? यवन राज औरंगजेबने तलवारके जोरसे यदि हिंदुओंको मूसलमान बनाया तो क्या बुरा किया ? क्योंकि, वे (हिंदु) यवनधर्म

और यवन धर्मपुस्तक कुरानको माननेवाले नहीं थे ! इसमें कुछ संदेह नहीं कि यदि कोई प्रौढ़ शासन " स्वामीजी " के हाथमें होता तो वेदोंपर श्रद्धा न रखनेवाले जैन और बौद्ध आदिके साहित्यसे भी वही काम लिया जाता जो कि यवनोंके शासनमें हमाम गरम करनेके लिये असूल्य हिंदु साहित्यसे लिया गया था ! पाठक महोदय ! क्षमा कीजिये हमको विवश होकर येह शब्द लिखने पडे हैं ! ! !

[घ]

"स्वामीजी" महाराज चार्वाकके साथ बौद्ध और जैनोंका पुनर्जन्म परलोक और मुक्ति आदिके माननेसे कितने ही अंशोंमें भेद दिखलाते हुए भी उन्हे एक बतला रहे हैं ! इसी तरह यदि कोई स्वामीजीके संबंधमें कहे कि, "ईश्वर, वेद और पुनर्जन्मको छोड़कर, स्वर्ग–नरक–देवपूजा और पितृश्राद्ध आदिके न माननेमें "स्वामीजी" भी चार्वाक (नास्तिक)के समान ही हैं" तो क्या कुछ अनुचित होगा ? हमारे ख्यालमें इस प्रकारका क्षुद्र लेख महात्माकी प्रशस्त लेखिनीका विषय नहीं होना चाहिये !

बौद्ध और जैनोंको जो "स्वामीजी"ने नास्तिक बतलाया है, इसके बारेमें हम अधिक कुछ न लिखते हुए अपने पाठकोंसे इतनी ही प्रार्थना करते हैं कि, वे हमारी बनाई हुई "जैनास्तिकत्व मीमांसा" नामकी पुस्तकको देखें.

"जैन बौद्धकी एकता और स्वामी दयानंद"

स्वामी द० स० –"जिनको बौद्ध तीर्थंकर मानते हैं उन्हींको जैन भी मानते हैं" (पृष्ट ४०५)

समालोचक– स्वामीजी महाराजका यह लेख ऐसा है, जैसे कोई कहे कि, जिस कुरानशरीफको हमारे महमदी भाई खुदाका इल्हाम कहते हैं, उसीको स्वामी "दयानंद" सरस्वतीजी ईश्वरीय ज्ञान (वेद) मानते हैं. इसीलिये ये दोनों एक हैं!। "स्वामीजी"ने जैन और बौद्धको एक बतलानेमें किसी भी युक्ति या प्रमाणसे काम नहीं लिया !। "सत्यार्थ प्रकाश"के (पृष्ठ ४०७)में जो इतिहास तिमिर नाशकका पाठ "स्वामीजी"ने जैन बौद्धकी एकतामें प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है वह उनकी आशाको सफल होने नहीं देता ! यद्यपि जैन और बौद्धकी एकतामें कोई दृढतर युक्ति और प्रमाणके उपलब्ध न होनेपर भी (प्रत्युत इसके विरुद्धमें शतशः प्रमाण उपलब्ध होते हैं !) केवल इतिहास तिमिर नाशक (जिसका लेख सर्वथा युक्ति सह नहीं) ग्रंथके आधार पर ही इनको एक मानना और बतलाना "स्वामीजी" जैसे निष्पक्ष विद्वानोंके लिये उचित नहीं ! तथापि "स्वामीजी" जैसे भद्र पुरुषके लेखको अप्रमाणिक कहना, अपने लिये अयोग्य समझते हुए हम इतिहास तिमिर नाशक ग्रंथके कर्त्ता, बाबू–"शिवप्रसाद" सितारे हिंदके उस पत्रको यहां पर उद्धृत करते हैं, जो कि उन्होंने गुजरांवाला–पंजाबके जैन समाज पर लिखा था ! इसके देखनेसे यह बात बखूबी मालूम हो जायगी कि, "स्वामीजी" का उलेख मध्यस्थ वर्गको किस सीमा तक आदरणीय है !!

[बाबू-"शिवप्रसाद" सितारे हिंदका पत्र.]

श्री ९ सकल जैन पंचायत गुजरांवालाको शिवप्रसाद का प्रणाम पहुंचे कृपापत्र पत्रोंसहित पहुंचा.

(१) जैन और बौद्ध एक नहीं है. सनातनसे भिन्न भिन्न चले आये हैं. जर्मनदेशके एक बड़े विद्वान्ने इसके प्रमाणमें एक ग्रंथ छापा है.

(२) चार्वाक और जैनसे कुछ संबंध नहीं. जैनको चार्वाक कहना ऐसा है जैसा स्वामी दयानंदजी महाराजको मुसल्मान कहना!

(३) इतिहास तिमिर नाशकका आशय स्वामीजीकी समझमें नहीं आया. उसकी भूमिकाकी एक नकल इसके साथ दी जाती है उससे विदित होगा कि, यह संग्रह है. बहुत बात खंड़नके लिये लिखी गयी, मेरे निश्चयके अनुसार उसमें कुछ भी नहीं है.

(४) जो स्वामीजी जैनको इतिहास तिमिर नाशकके अनुसार मानते हैं तो वेदोंको भी उसके अनुसार क्यों नहीं मानते ?

वनारस १ जनवरी ईस्वीसन् १८७९ — आपका दास— शिवप्रसाद.

(अज्ञान तिमिर भास्कर प्रथम खंड़से उद्धृत.)

सज्जनो ! आग्रहग्रस्त मनुष्यको सत्य प्राप्तिसे वैसे ही हाथ धोने पड़ते हैं जैसे राजयक्ष्माके रोगीको जीवनसे ! आग्रहको छोड़कर सत्यासत्यका विचार करना ही विद्वानोंके प्रशस्त जीवनका उद्देश्य है । जैन और बौद्धकी विभिन्नतामें शतशः प्रमाण-उपलब्ध हो रहे हैं । संसार भरके निष्पक्ष विद्वान इस बातको मुक्त कंठसे स्वीकार कर रहे हैं । इस बातका उदाहरणार्थ थोडासा नाम पूर्वक वर्णन किया जाता है.

(१) सर्व दर्शन संग्रहके रचयिता माधवाचार्यने जैन और बौद्ध दर्शनका स्वतंत्र भिन्न भिन्न उल्लेख किया है.

(२) अद्वैत सिद्धिके कर्त्ता महात्मा सदानंदने बौद्ध

मतके सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार अवांतर भेदोंका वर्णन करते हुए जैन धर्मको इनके अंतर्निविष्ठ नहीं किया.

(३) महर्षि वेद व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें जैन और बौद्ध मतका परस्पर कुछ भी संबंध नहीं बतलाया.

(४) स्वामी शंकराचार्यसे लेकर जितने भी प्रसिद्ध विद्वानोंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचे हैं, उनमेंसे ऐसा एक भी नहीं जिसने एक दूसरेसे सर्वथा संबंध न रखनेवाले बौद्ध और जैन मतका प्रतिपादन और खंडन न किया हो ! स्वामी शंकराचार्य स्पष्ट लिखते हैं "निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय-इदानीं निरस्यते" २-२-३१.

(५) बौद्धोंका क्षणिकवाद और जैनोंका स्याद्वाद इन दोनोंका आपसमें सदैवसे ३६का संबंध है.

(६) हनुमन्नाटक ग्रंथमें भी जैन और बौद्धको भिन्न भिन्न माना है. श्लोक. २.

(७) बौद्ध ग्रंथोंमें जैन मतका बहुतसा प्रतिवाद देखनेमें आता है, एवं जैन ग्रंथोंमें भी बौद्ध स्वीकृत क्षणिक वादके खंडनकी कमी नहीं ! ।

(८) प्राचीन ग्रंथोंमें स्याद्वादी और क्षणिकवादी इन दो शब्दोंका अर्थ क्रमशः जैन और बौद्ध किया हुआ देखा जाता है.

(९) पाश्चात्य विद्वान् मि. हर्मन जेकोबीने आचारांग, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग जैन सूत्रोंके इंगलिश भाषांतरकी प्रस्तावनामें इस अंधकारको बड़े ही सबल प्रमाणोंसे दूर किया है ! परंतु स्वामी "दयानंद" सरस्वतीजीने जैन और बौद्धको किस आशयसे एक लिख मारा इसका उत्तर हमारी बुद्धिसे बाहिर है !

"सप्तभंगी और स्वामी दयानन्द सरस्वती"

[क]

स्वामी द० स०—" अब जो बौद्ध और जैनी लोग सप्तभंगी और स्याद्वाद मानते हैं सो यह है. " सन् घटः " इसको प्रथम भंग कहते हैं क्योंकि घट अपने वर्त्तमानतासे युक्त अर्थात् घड़ा है इसने अभावका विरोध किया है। दूसरा भंग " असन् घटः " घड़ा नहीं है प्रथम घटके भावसे यह घड़ेके असद्भावसे दूसरा भंग है। तीसरा भंग यह है कि " सन्नसन् घटः " अर्थात् यह घडा तो है परंतु पट नहीं क्योंकि उन दोनोंसें पृथक् हो गया। चौथा भंग " घटोऽघटः " जैसे " अघटः पटः " दूसरे पटके अभावकी अपेक्षा अपनेमें होनेसे घट अघट कहाता है युगपत् उसकी दो संज्ञा अर्थात् घट और अघट भी है। पांचवां भंग यह है कि घटको पट कहना अयोग्य अर्थात् उसमें घटपन वक्तव्य है और पटपन अवक्तव्य है। छःठा भंग यह है कि जो घट नहीं है वह कहने योग्य भी नहीं और जो है वह है और कहने योग्य भी है। और सातवां भंग यह है कि जो कहनेको इष्ट है परंतु वह नहीं है और कहनेके योग्य भी घट नहीं यह सप्तमभंग कहाता है" इत्यादि। [पृष्ट ४१०]

[ख]

" यह कथन एक अन्योन्याभावमें साधर्म्य और वैधर्म्यमे चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरणको छोड़कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियोंके फसानेके लिये होता है। देखो जीवका अजीवमें और अजीवका जीवमें अभाव रहता ही है जैसे जीव और जड़के वर्त्तमान होनेसे साधर्म्य और चेतन तथा जड़ होनेसे वैधर्म्य अर्थात् जीवमें चेतनत्व (अस्ति) है

और जड़त्व (नास्ति) नहीं है । इसी प्रकार जड़में जड़त्व है और चेतनत्व नहीं है इससे गुण कर्म स्वभावके समान धर्म और विरुद्ध धर्मके विचारसे सब इनका सप्तभंगी और स्याद्वाद सहजतासे समझमें आता है फिर इतना प्रपंच बढ़ाना किस कामका है ?। इसमें बौद्ध और जैनोंका एक मत है " ।

[पृष्ट ४११]

[क]

समालोचक—" स्वामीजी "ने अपने समस्त जीवनमें जैन और बौद्ध धर्मका एक भी ग्रंथ पढ़ा अथवा देखा हो ऐसा उनके लेखसे विदित नहीं होता ! अन्यथा वे " अब जो बौद्ध और जैनी लोग सप्तभंगी और स्याद्वाद मानते हैं " ऐसा कदापि न लिखते ! जैन और बौद्ध धर्मका मनमाना, निर्बल, खंडन करनेके लिये स्वामीजीने मात्र जिस सर्वदर्शनसंग्रह ग्रंथ के आधार पर उनके मतका यथा कथंचित् निरूपण किया है, यदि उसको भी अच्छी तरहसे देख लेते तो भी उन्हें मालूम हो जाता कि, बौद्ध मतमें सप्तभंगीका सर्वथा अंगीकार नहीं है! सप्तभंगी नयके माननेवाला केवल जैनधर्म है ! बौद्धोंका सिद्धांत क्षणिकवाद है, स्याद्वाद नहीं । और जैनोंका सिद्धांत स्याद्वाद है, क्षणिकवाद नहीं । अर्थात् जैन और बौद्ध धर्मकी विभिन्नताका मुख्य कारण ही स्याद्वाद [सप्तभंगी] और क्षणिकवाद है । यह बात इतनी निर्भ्रान्त है जितना कि मध्याह्नका सूर्य । फिर " स्वामीजी " महाराजने ऐसा क्यों लिखा ? इसका उत्तर सिवा उनके कोई दूसरा दे सके ऐसी हमे आशा नहीं ! । हां ! कदापि—"प्र. मूर्त्तिपूजा कहांसे चली ? उ. जैनियोंसे. प्र. जैनियोंने कहांसे चलाई ? उ. अपनी मूर्खतासे " [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३०९] अपने इस कथनके अनुसार स्वामीजीने

यह लिखमारा हो तो हम कह नहीं सकते ! क्योंकि वे स्वतंत्र पुरुष थे !

"स्वामीजी" ने जो "सन् घटः" इसको प्रथम भंग कहते हैं, इत्यादि लेखसे जैन मतकी सप्तभंगीका वर्णन किया है, वह जैन धर्मके सिद्धांतमें इनकी मात्र मुग्धताको ही प्रकट नहीं करता ! किंतु " इन्होंने मूल चार वेदोंकी संहिताओंको न सुना न देखा और न किसी विद्वान्से पढ़ा इसी लिये नष्ट भ्रष्ट बुद्धि होकर–इत्यादि–तथा–क्या करें बिचारे इनमें इतनी विद्या ही नहीं जो सत्यासत्यका विचार कर-इत्यादि [पृष्ठ ४०२]" " स्वामीजी " के इस लेखको भी इनके ही लिये अक्ष रूप बना रहा है !

सज्जनो ! किसी भी मतका प्रतिपादन वा खंडन करनेवाले मनुष्यके लिये यह परम आवश्यक है कि, प्रथम वह उस मतका अच्छी तरहसे अभ्यास कर लेवे । हरएक मतके ग्रंथोंमें कितनीक ऐसी सांकेतिक बातें होती हैं कि, उनका विना अभ्यास और सहवाससे परिचयमें आना कठिन है ! परंतु आज कल कितनेक ऐसे भी क्षुद्र आशयके मनुष्य देखनेमें आते हैं कि, जो विना ही किसी धर्मके रहस्यको समझे, उसके खंडनमें प्रवृत्त हो जाते हैं ! ऐसे पुरुषोंके विषयमें महर्षि यास्कका " नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति " यह वाक्य ही शरण है ।

यद्यपि " स्वामी जी " महाराजके प्रखर पांडित्य पर हमको पूर्ण अभिमान है, और हम चाहते हैं कि, उक्त कलंकसे " स्वामीजी " सदा मुक्त रहें । परंतु शोक ! कि, उनकी पूर्वमें प्रतिपादन की हुई सप्तभंगी रूप बालक्रीडा ! हमारी इस शुभ आशाको सफल होने नहीं देती ! " स्वामीजी " की निरूप-

ण की हुई सप्तभंगीको देखकर हमे विचार होता है कि, उन्होंने सप्तभंगीकी यह अनोखी रचना जैन मतके किस ग्रंथपरसे की होगी ? क्योंकि जैन धर्मके आज कल जितने ग्रंथ (मुद्रित अथवा लिखित) उपलब्ध होते हैं, उनमें इस प्रकारकी सप्तभंगीकी रचना कहीं भी देखनेमें नहीं आती ! संभव है ! हम " स्वामीजी " का आशय ही न समझे हों ! कदापि येन केन प्रकारेण परमतकी निंदामें ही उनका अभिप्राय हो तो उसको भी कौन रोक सकता है ? परंतु "स्वामीजी" तो संसारसे चल बसे, अब पूछें तो किससे पूछें ! स्वामीजीके पृष्टपोषकोंमेंसे इनकी वर्णन की हुई सप्तभंगी को जैन धर्मके माननीय ग्रंथोंके द्वारा कोई समाहित कर दिखावे ऐसी हमें आशा नहीं !

[ख]

अन्योनाभाव और साधर्म्य वैधर्म्यमें सप्तभंगीका अंतर्भाव बतलाना तो "स्वामीजी"का उनकी वर्णन की हुई सप्तभंगीसे भी दो कदम आगे बढ़ा हुआ है ! इस विषयमें अब हमारा कथन केवल अरण्य रोदन के ही समान है । इसमें संदेह नहीं कि, यदि " स्वामीजी " सप्तभंगी के वास्तविक रहस्यसे परिचित होते तो उनको " अन्योन्याभावमें " इत्यादि निर्बल आक्षेप करनेके लिये अपनी लेखनीको श्रम देना न पड़ता ! हां ! आग्रहरूप रोगकी औषधि तो विधाताके पास भी शायद ही निकले !

" स्वामीजी " महाराज जैनोंके सप्तभंगी नयको बड़ा विकट मार्ग बतलाते हैं ! परंतु विचारसे देखा जाय तो यह मार्ग बड़ा ही सरल और स्पष्ट है ! इसके आश्रयसे हम कठिनसे भी कठिन प्रश्नोंकी मीमांसा बडी ही सुगमतासे कर सकते हैं !

परंतु शोक इतना ही है कि, जैनोंके इस व्यापक सिद्धांतको यथावत् समझनेवाले इस संसारमें बहुत थोड़े मनुष्य हैं ! ऐसे मनुष्य प्रायः अधिक संख्यामें देखे जाते हैं जो कि जैनधर्मके सिद्धांतको समझे सोचे विना ही उसकी पेटभर निंदा करनेमें अपने जन्मको सफल समझते हैं ! हमारे ख्यालमें ऐसे पुरुषोंके विषयमें "भद्रं कृतं कृतं मौनं, कोकिलैर्दर्दुरागमे ! दर्दुरा यत्र वक्तार–स्तत्र मौनं हि शोभते ॥ १ ॥" इस कवि वाक्यको स्मरण करते हुए जैनोंको मौन रहना ही अच्छा है.

हम अपने पाठकोंसे निवेदन कर चुके हैं कि, जैन सिद्धांतोंसे असाधारण परिचय रखनेवाले बहुत थोड़े मनुष्य हैं! विचार किया जाय तो जैनमतके कितनेक ऐसे गूढ विचार हैं कि, जिनको समझनेके लिये जैन ग्रंथोंके जानकार किसी योग्य विद्वान्का संग और कुछ परिश्रमकी आवश्यकता है.

अब हम जैनोंका मंतव्य क्या है ? जैन प्रासादका आधारभूत सप्तभंगी नय किसको कहते हैं ? उसका प्रयोजन क्या है ? उससे हम पदार्थोंकी परिस्थितिको सुगमतासे किस प्रकार समझ सकते हैं ? इत्यादि विषयको संक्षेपसे वर्णन करते हैं । जिससे हमारे पाठक जैनसिद्धांतोंसे कथमपि परिचित होते हुए अपने मध्यस्थ विचारोंको विशाल करनेके लिये सुगमता प्राप्त कर सकें.

जैन धर्मका यथार्थ नाम अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद है । यदि इसको मध्यस्थवादके नामसे पुकारें तो बहुत उचित होगा । जैन धर्ममें वस्तु मात्रकी व्यवस्था एक दूसरेकी अपेक्षासे की गई है, इसीलिये इसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है. जैन मतमें वस्तुमात्र ही उत्पत्ति स्थिति और नाश इन तीन अवस्थाओंसे युक्त है ।

जिसमें ये तीनो धर्म नहीं वह वस्तुही शशश्रृंग के समान है। वस्तुके स्थिर रहने परभी उसमें उत्पत्ति और नाश हुआ करता है. पदार्थमें जो स्थिरांश है उसको द्रव्य और अस्थिरांशको जैन मतमें पर्याय कहते हैं. जैन सिद्धांतमें पदार्थ मात्रको द्रव्य और पर्यायरूप–नित्यानित्य–माना है. अर्थात् द्रव्यरूपसे जीवाजीवादि सब पदार्थ नित्य हैं। और पर्याय रूपसे अनित्य हैं। परंतु द्रव्य और पर्याय भी आपसमें सर्वथा भिन्न नहीं, किंतु एक दूसरेकी अपेक्षासे कहनेमें आते हैं. अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे पर्याय, और पर्यायकी अपेक्षा सेद्रव्य, कहाजाता है. क्योंकि, वस्तुमात्र परस्पर सापेक्ष्य है. किसी व्यक्तिमें पुरुष शब्दका निर्देश किया जाता है तो स्त्री शब्दकी अपेक्षासे ही किया जाता है, एवं किसी व्यक्तिमें स्त्री शब्दका व्यवहार भी पुरुष शब्दकी अपेक्षाके विना नहीं हो सकता, दिन कहा तो रात्रिकी अपेक्षा हुई। पंडित कहा तो मूर्खकी अपेक्षा हुई। इसी तरह घट, अघटकी अपेक्षासे; सत्य, असत्यकी अपेक्षासे; पिता, पुत्रकी अपेक्षासे; बहिन, भाईकी अपेक्षासे; तथा प्रकाश, अंधकारकी अपेक्षासे; बंध, मोक्षकी अपेक्षासे; इत्यादि सर्व व्यवहार अपेक्षासे ही किया जा सकता है। संसारमें अपेक्षाके विना वस्तुका निर्देश वंध्यापुत्रके समान है, ऐसा जैनशास्त्रका सिद्धांत है। जैनोंके इस अपेक्षावाद–स्याद्वाद–सिद्धांतका स्वीकार प्रत्येक दर्शनकारने किसी न किसी रीतिसे अवश्य किया है! जो कि, कहीं अन्यत्र प्रदर्शित किया जायगा।

पाश्चात्य विद्वान्–मि. 'सर विलियम' और 'हेमिल्टन,' ने मध्यस्थ विचारोंके विशाल मंदिरका आधार जैनोंके इस अपेक्षावादको ही माना है। जैनमतमें अपेक्षावादका ही दूसरा

नाम नयवाद है। पदार्थमें रहे हुए अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मको किसी एक दृष्टिसे प्रतिपादन करनेकी पद्धतिको नय कहते हैं। जैसे पुत्रकी अपेक्षासे किसी व्यक्तिको पिता कहना। सर्व प्रकारके नयोंका समावेश मुख्यतया द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंमें किया गया है। द्रव्य अर्थात् वस्तु, पर्याय अर्थात् उसकी विकृति फेरफार (जैसे सुवर्ण द्रव्य—और कटक कुंडलादि पर्याय) के बोधक जो नय उनको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयको नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीन वर्गोंमें विभक्त किया है. तथा पर्यायार्थिक नयको ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, इन चार वर्गोंमें विभक्त किया है. (इनका स्वरूप अन्यत्र विस्तारसे लिखा जायगा.)

शरीरके हस्त पादादि अवयवोंकी तरह एक दूसरेसे सहानुभूति रखनेवाले इन सात नयोंके समुदायसे पदार्थकी यथावत् व्यवस्थाको सम्यक्त्व और इसके विपरीत अर्थात् इन सातोंमेंसे अपेक्षा रहित किसी एक ही नयसे पदार्थकी व्यवस्था को जैन मतमें मिथ्यात्व कहा है. जैनदर्शनका अन्य दर्शनोंके साथ इतने अंशमें ही विवाद है कि, जैनदर्शन सर्व नयों (अपेक्षा) से पदार्थकी व्यवस्था करता है, और अन्यदर्शनकार किसी एक ही नयसे पदार्थकी व्यंवस्थाको स्वीकार कर रहे हैं. जैसे बौद्धदर्शन आत्माको सर्वथा क्षणिक (अनित्य)—और वेदांतदर्शन सर्वथा नित्य मानता है ! परंतु जैनदर्शनका कथन है कि, सर्वथा क्षणिक माननाभी ठीक नहीं, और सर्वथा नित्य मानना भी ठीक नहीं, किंतु कथंचित् नित्यानित्य उभय प्रकारसे ही मानना उचित है. अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे यह आत्मा नित्य, एवं अजर और अमर है. तथा पर्यायार्थिक-

नयकी अपेक्षासे यह आत्मा अनित्य, एवं प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। इसी प्रकार संसारको भी जैनमतमें द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षासे अनादि अनंत और सादिसांत माना है। वस्तुमात्र जैनमतमें द्रव्य और पर्याय—सत् असत्—नित्या नित्यस्वरूप है। अर्थात् अपने अपने देश, काल, स्वभावादिकी अपेक्षासे सत् और अन्यके देश, काल, स्वभावादिकी अपेक्षासे असत् है। यथा—घट, अपने घटरूपसे तो सत् है, और अन्य पट रूपसे असत् है। इसी प्रकार सदसत् भी है। एवं पृथिवी परमाणु रूपकी अपेक्षासे, नित्य है, घट पटादिकी अपेक्षासे अनित्य है। इस प्रकार पदार्थों की जो व्यवस्था उसको बतलानेके लिये जैनमतमें स्यात् शब्द का प्रयोग किया ह।

स्यात् यह अनेकांत का द्योतक अव्यय है। इसका अर्थ यथा कथंचित्—जिस किसी प्रकारसे—अथवा अपेक्षासे ऐसा होता है। कदापि प्रश्न किया जावे कि, अमुक पदार्थ सत् है? तो उत्तर मिलेगा कि, स्यात्—किसी अपेक्षासे इसीका नाम स्याद्वाद अथवा अनेकांतवाद है। वस्तु सत् ही है, अथवा असत् ही है, इस प्रकारके निश्चय अथवा आग्रहका नाम एकांत है, इससे विपरीत अर्थात् पदार्थ किसी अपेक्षासे सत् और किसी अपेक्षासे असत् भी है, इसप्रकारके कथनका नाम अनेकांतवाद है. स्याद्वादकी पद्धतिके अनुसार पदार्थके स्वरूपको बतलानेवाले मात्र सात प्रकार हैं. इनमेंसे प्रत्येक प्रकारको भंग कहते हैं. इन सातोंके समुदायको ही जैनमतमें सप्तभंगी कहा है.

यथा—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति चावक्तव्यम्, स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्, स्यादस्तिनास्ति चावक्तव्यम्॥

अर्थात्—किसी अपेक्षासे है, किसी अपेक्षासे नहीं किसी अपेक्षासे है और नहीं, किसी अपेक्षासे कहा नहीं जा सकता, किसी अपेक्षासे है पर कथन करना असंभव है, किसी अपेक्षासे नहीं पर कहा नहीं जाता, किसी अपेक्षासे है और नहीं पर कहा नहीं जा सकता।

साधारण रीतिसे तो जैनोंका यह मत बड़ा ही नीरस, अव्यवस्थित और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है! परंतु इसपर कुछ समय विचार करनेसे इसकी सरसता, सुव्यवस्था, एवं अविरोधताका महत्व बड़ी ही सरलतासे समझमें आ जाता है। जैन दर्शनको इस विषयमें पूर्ण अभिमान है कि, परिणाममें दुःखका हेतु जो मिथ्या ज्ञान उससे मुक्त होनेके लिये स्याद्वाद जैसा उत्तम साधन दूसरा कोई नहीं! अब हम इस सिद्धांतको थोड़ासा स्पष्ट करके पाठकोंको दिखाते हैं।

बहुतसे लोगोंका मत है कि, जैनोंका "स्यादस्ति—स्यान्नास्ति" इत्यादि सप्तभंगी नय परस्पर विरुद्ध पदार्थोंका एक स्थानमें समावेश कर रहा है। अतः प्रकाश और अंधकारको एक स्थानमें समाविष्ट करनेवाला यह सिद्धांत केवल उन्मत्त प्रलाप मात्र ही है! इसलिये ऐसे सिद्धांतको अपने हृदयमें स्थान देना सिवा मूर्खताके और कुछ अर्थ नहीं रखता! परंतु हमारे विचारमें उनका यह कथन केवल भ्रांति मूलक है। क्योंकि जैनदर्शनका यह सिद्धांत ही नहीं है।

जैन दर्शनका मंतव्य है कि, जो सिद्धांत किसी एक प्रकार (अपेक्षा) से सत्य प्रतीत होता है उसका विरोधी सिद्धांत भी किसी अन्य प्रकार (अपेक्षा) से सत्य ठहरता है। जैसे किसी व्यक्तिमें उसके पुत्रकी अपेक्षासे पिता व्यवहार किया, परंतु उसका विरोधी उसके पिताकी अपेक्षासे उसमें

पुत्र व्यवहार भी हो सकता है। इस लिये निरपेक्ष (अपेक्षासे रहित) एक व्यक्तिमें परस्पर विरुद्ध पिता और पुत्रका व्यवहार करना जैन धर्मके मंतव्यसे सर्वथा बाह्य है। किंतु किसी अपेक्षासे एक व्यक्तिमें भी परस्पर विरुद्ध पिता और पुत्र व्यवहार हो सकता है। एक ही देवदत्तमें अपने पिता और पुत्रकी अपेक्षासे पुत्र और पिताके व्यवहारका होना ऊपर बतला दिया गया है। इसी बातको स्पष्ट रूपसे बतलानेके लिये जैन दर्शनमें " अस्ति नास्ति " आदि प्रत्येक भंगमें स्यात् (कथंचित्—किसी प्रकार किसी—अपेक्षा) शब्दका प्रयोग किया है। और यह सिद्धांत सर्वमान्य है। जैनशास्त्रोंमें इसी हेतुसे इसको *सार्वतांत्रिक (सर्वदर्शनोंमें होनेवाला) सिद्धांत बतलाया है।

स्यादस्ति घटः—किसी एक प्रकारसे घट है, स्यान्नास्ति घटः—किसी एक प्रकारसे घट नहीं है। इन दोनोंका हमको यही अर्थ करना होगा कि, घट अपने घट स्वरूपसे है, और पट स्वरूपसे नहीं है। यदि पट स्वरूपसे भी घटका अस्तित्व माना जाय तब तो घट और पट दोनों एक हो जावेंगे, और भेद व्यवहारका उच्छेद ही हो जावेगा। जब कि हम, किसी अपेक्षासे प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व और नास्तित्वका प्रतिपादन कर सकते हैं, तो इससे अर्थात् सिद्ध हुआ कि, किसी अपेक्षासे पदार्थ अस्ति नास्ति उभय रूप भी है। इसी बातको स्फुट करनेके लिये स्यादस्ति नास्ति घटः किसी प्रकारसे घट है और नहीं। यह तीसरा प्रकार कथन किया गया है।

---

* ब्रुवाणा भिन्नाभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया। प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः, स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्॥ [यशोविजयोपाध्यायाः]

विश्वके यावत् पदार्थ, द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षासे अस्ति और नास्ति शब्दसे व्यवहृत किये जा सकते हैं, परंतु अस्ति और नास्ति रूप विरोधी स्वभावोंका युगपत् एक ही समयमें कथन करना असंभव है, इस रहस्यको समझानेके लिये स्यादवक्तव्यम् (किसी एक प्रकारसे कहा नहीं जा सकता) इस चतुर्थ भंगका उल्लेख किया। एवं अवशिष्ट तीन भंग भी किसी अपेक्षाको लेकर अस्ति नास्ति और अवक्तव्य इन तीन पदोंके संयोगसे बनाये गये हैं। इनका सविस्तर सप्रमाण वर्णन हम कहीं अन्यत्र करेंगे।

"स्वामी दयानंद सरस्वतीजी" जो सप्तभंगीको अन्योन्याभाव के अंतर्निविष्ट करना बतलाते हैं इसके विषय में हम पूछते हैं कि, पृथिवीत्वकी अपेक्षासे घट पट की एकता और घटत्व तथा पटत्वकी अपेक्षासे उनकी भिन्नताको जिस प्रकार स्याद्वाद अपनी पद्धतिसे बतला रहा है, क्या इस प्रकारसे घट और पटके परस्पर सर्वथा भेदका व्यवस्थापक अन्योन्याभाव, भेदाभेदका समर्थन कर सकता है? हां! यदि "स्वामीजी" का अन्योन्याभाव ही किसी दूसरे प्रकारका हो, तबतो हम कुछ कह नहीं सकते!

जीव और जडके वर्त्तमान होनेसे "साधर्म्य" (एकता) और चेतन तथा जड होनेसे "वैधर्म्य" (भिन्नता)" इत्यादि लेखसे जड चेतनके परस्पर भेद और अभेदको साधर्म्य वैधर्म्य नामसे कहते हुए तो "स्वामीजी" स्याद्वादकी स्पष्टता और सरलताको बड़े ही अभिमानसे स्वीकार कर रहे हैं!! हां! स्याद्वादका नाम लेनेसे यदि वे कलंकित होते हों तो हम विवश हैं! एक तर्फ तो पदार्थको कुटिल बतलाना और दूसरी तर्फ उसकी सरलताको स्पष्ट स्वीकार भी

करना ! पाठको ! क्षमा कीजिये यह उन्मत्तपना नहीं तो और क्या है ?

" स्वामी दयानंद सरस्वती और जगत् "

सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४१९ से ४१८ तकमें "दयानंद सरस्वतीजी " ने जगत्का कर्त्ता ईश्वर है इस विषयका बहुतसा राग आलापन किया है ! यदि " स्वामीजी महाराज " जैनोंके माननीय सिद्धांत ग्रंथोंके वाक्योंको उद्धृत करके उनकी समीक्षा करते तो क्या ही अच्छा होता ! परंतु "स्वामीजी" के ग्रंथमें तो प्रकरण रत्नाकर, रत्नसार, विवेक-सार आदि तीन चार भाषाके ग्रंथोंका ही नाम देखनेमें आता है ! ये ग्रंथ जैनोंके कोई सर्वमान्य सिद्धांत ग्रंथ नहीं हैं. इनमेंभी " स्वामीजी "ने कितनी भूलें खाई हैं, यह पाठकोंको आगे विदित होगा।

यदि "स्वामीजी" जैनोंके—सम्मतितर्क, स्याद्वादमंजरी, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका—प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार वृत्ति, स्याद्वादकल्पलता—शास्त्रवार्त्तासमुच्चयवृत्ति, अनेकांतजयपताका, खंडनखंडखाद्य—महावीरस्तोत्र, षड्दर्शनसमुच्चय प्रभृति ग्रंथोंके पूर्वपक्षोंको उद्धृत करके जैनधर्मके सिद्धांतकी समालोचना करते तो अवश्य ही हम उनके पांडित्य पर फूले न समाते ! परंतु "स्वामीजी"ने तो साधारण भाषाके संग्रह ग्रंथोंमें ही अपने पांडित्यकी गठडीको खोलकर जनसाधारणको उसका परिचय दे दिया है !

सज्जनो ! ईश्वर जगत्का कर्ता है या कि, नहीं ? इस विषयमें प्राचीन समयसे ही विवाद चला आता है ! सब दर्श-नोंका इसमें एकमत नहीं ! सांख्य और मीमांसा दर्शन, ईश्वर

कर्तृत्वके सिवा ईश्वरके अस्तित्वका भी विरोधी है! मीमांसा दर्शनमें फिरसे जिंदगी डालनेवाले "कुमारिल भट्ट" ने तो इस प्रकारसे ईश्वरकर्तृत्वका:प्रतिवाद किया है कि, "उदयनाचार्य" प्रभृति उसका लेशमात्र भी खंडन नहीं कर सके।'पत्युरसामंजस्यात्' इस व्याससूत्र के भाष्यमें "स्वामी शंकराचार्य" का भी ईश्वर–कर्तृत्व (निमित्तकारण) के प्रतिवादका लेख देखने योग्य है! क्या ही अच्छा होता जो "स्वामी दयानंदसरस्वतीजी" वृथा ही जैनधर्मके विषयमें अपने पांडित्यकी डुगडुगी न पीटकर, प्रथम ईश्वर कर्तृत्वके विषयमें दिये हुए कुमारिल और शंकर-स्वामीके दोषोंका उद्धार कर बताते!

स्वार्थी तथा कदाग्रही लोगोंने भद्रजन समाजका "जगत्कर्त्ता ईश्वरः–अपौरुषेया वेदाः" इन दो बातोंमें इतना अंध विश्वास बढ़ा रक्खा है कि, इनके समक्ष इनपर विचार तो क्या, कोई चूं तक नहीं कर सकता! कदापि कोई भूल कर इनके विषयमें कुछ लिख बैठता है तो उसके लेखपर कुछ भी विचार किये विना ही उसको पापी, दुरात्मा और नास्तिक कहकर चिल्लाने लगते हैं!। बिचारे क्या करें? ब्रिटिश सरकारका राज्य है! नहीं तो "स्वामी दयानन्दजी" के कथनानुसार इनकी कृपासे उसको कालापानी अवश्य ही देखना पड़े! ईश्वर जगत्का कर्त्ता है कि नहीं? यह विषय बड़ा ही विस्तृत और गंभीर है! इस पर स्वतंत्र लेखद्वारा हम कहीं अन्यत्र अवश्य विचार करेंगे! यदि इस स्थानमें ही इस विषयको चर्चा जावे तो इस पुष्पका आकार बहुत बढ़ जावेगा। क्योंकि स्वामीजीके लेखके सिवा अन्य भी इस विषयसे संबंध रखने वाली बहुतसी बातें हैं जिन पर विचार करना बहुत आवश्यक है! यहां पर हम सिर्फ इतना ही पाठकोंसे निवेदन

करते हैं कि, जगत्का कर्त्ता ईश्वर है इस बातको कल्पना मात्र जैन, बौद्ध, तथा सांख्य और मीमांसा दर्शनमें ही नहीं बतलाया ! किंतु—

"को ददर्श प्रथमं जायमानमन्वस्थं यदनस्था बिभार्त्ति ।
भूम्या असुरसृगात्माक्वसित्को विद्वांसमुपागात्प्रष्टुमेतत् ॥

[१–१६४–१]

यह ऋग्वेदका मंत्र भी सृष्टिकी उत्पत्ति कथाको कल्पना प्रसूत ही बतला रहा है ।। अस्तु ! इस विषयको अन्यत्र लिखनेके लिये हम प्रतिज्ञा बद्ध होते हुए "स्वामीजी" के आगेके लेख पर पाठकोंका ध्यान खैंचते है.

[क]

स्वा० द०—अब जैन लोग जगत्को जैसा मानते हैं वैसा इनके सूत्रोंके अनुसार दिखलाते हैं.

मूल—*सामि अणाई अणन्ते चतुगई संसार घोर कान्तरे । मोहाइ कम्म गुरु ठिइ विवागवसनु भमई जीवंरो ॥

प्रकरण रत्नाकर भाग दूसरा. २ षष्ठी शतक ६० सूत्र२॥

यह रत्नसार भाग नामक ग्रंथके सम्यकत्व प्रकाश प्रकरणमें गौतम और महावीरका सम्वाद है ॥ [पृष्ठ ४१९]

(ख)

इसका संक्षेपसे उपयोगी यह अर्थ है कि यह संसार अनादि अनंत है न कभी इसकी उत्पत्ति हुई न कभी विनाश होता है अर्थात् किसीका बनाया जगत् नहीं सो ही आस्तिक नास्तिकके संवादमें हे मूढ़ ! जगत्का कर्त्ता कोई नहीं न कभी

---

* यह प्राकृत श्लोक अधिकांश अशुद्ध है. इसका शुद्ध पाठ आगे लिखा जावेगा.

बना और न कभी नाश होता। (समीक्षक) जो संयोगसे उत्पन्न होता है वह अनादि और अनंत कभी नहीं हो सकता। और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता जगत्में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब संयोगज उत्पत्ति विनाश वाले देखे जाते हैं पुनः जगत्-उत्पन्न और विनाश वाला क्यों नहीं ? इस लिये तुम्हारे तीर्थंकरोंको सम्यग् बोध नहीं था जो उनको सम्यग् ज्ञान होता तो ऐसी असंभव बातें क्यों लिखते ? इत्यादि (पृष्ठ ४१९)

[क]

समालोचक—"स्वामीजी" प्रतिज्ञा तो यह करते हैं कि, "इनके सूत्रोंके अनुसार दिखलाते हैं" और नाम लेते हैं "प्रकरण रत्नाकर" और "रत्नसार" आदिका ! फिर ऊपरके प्राकृत पद्यको लिखा तो है "षष्ठीशतक"का और बतलाते हैं "रत्नसार" (जोकि भाषाके वाक्योंका संग्रह है) के "सम्यक्त्व प्रकाश" का ! फिर देखनेका यह है कि, "प्रकरणरत्नाकर" (जो कि बहुतसे स्तोत्र आदि ग्रंथोंसे प्रकाशकका संगृहीत है) और " रत्नसार " इन दोनों ग्रंथोंमें " सम्यक्त्वप्रकाश " नामका कोई प्रकरण ही नहीं ! " स्वामीजी " ने " षष्ठीशतकको " सूत्र (आगम) ग्रंथ बतलाया परंतु जैनोंके किसी भी सूत्र (आगम) ग्रंथमें इसका उल्लेख नहीं ! और साथही आनंदकी बात यह है कि, षष्ठीशतकमें उक्त प्राकृत श्लोककी गंधमात्र तक नहीं है ! सम्यक्त्वप्रकाश प्रकरणमें गौतम और महावीर स्वामीका संवाद है " स्वामीजी " का यह लेख तो निःसंदेह उनकी जैनधर्म संबंधी विज्ञतापर प्रतिक्षण आंसू बहा रहा है ! हम नहीं कह सकते कि, "स्वामी दयानंदजी" किस आशयसे जैन मतके खंडनमें प्रवृत्त हुए हैं ! !

[ख]

"स्वामीजी" ने जो ऊपर लिखे प्राकृत श्लोकका उपयोगी अर्थ बतलाया है वह "स्वामीजी" के लिए तो उपयोगी ठीक़ हो सकता है! अन्यथा उनके मनमाने निर्बल आक्षेपकी दाल नहीं गल सकती!। "जो संयोगसे उत्पन्न होता है वह अनादि अनंत कभी नहीं हो सकता" इसपर हम पूछते हैं कि, यह जगत् किसके संयोगसे उत्पन्न हुआ? यदि परमाणुओंके संयोगसे इसकी उत्पत्ति कहोगे तो, प्रथम परमाणु विभक्त दशामें (जुदे जुदे) थे, यह अवश्य स्वीकार करना होगा! संयोगके नाशक (नाश करनेवाले) गुणका नाम विभाग है। इस लिये विभागसे प्रथम भी परमाणुओंका संयोग था, यह अवश्य मानना पड़ेगा! इसी तरह संयोगसे पूर्व विभाग, और विभागसे पूर्व संयोग। इस संयोग विभागकी परंपराको अनादि माने विना छुटकारा होना असंभव है। एवं संयोग और विभाग परंपराकी कहीं सर्वथा समाप्ति हो जाय यह भी असंभव हैं। इसलिये अनादिकी तरह इसको अनंत (अंतरहित) भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसी लिये भगवान् श्री कृष्णचंद्र कहते हैं कि–"नांतो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा" [गीता. अ. १५. श्लो. ३.] अर्थात् इस संसारका न कोई आदि है, न अंत है। तथा–

"को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आयाता इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जने नाथा को वेद यतः आबभूव॥"

[मं० १० सू १२९]

यह ऋग्वेदकी श्रुति भी संसारकी अनादि अनंतताको स्पष्ट बतला रही है। एवं–"न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" [वेदांतदर्शन. अ. २. पा.

१. सू. ३५–३६.] इन दो सूत्रों द्वारा "महर्षि वेदव्यासजी" भी संसारको अनादि कह रहे हैं। दूसरे सूत्रके भाष्यमें "स्वामी शंकराचार्यजी" लिखते हैं कि–"उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः" अर्थात् श्रुति और स्मृतिमें संसारको अनादि बताया गया है।

"स्वामी दयानंदजी" ऋगवेदादिभाष्य भूमिकाके पृष्ठ २२ में-इस संसारको उत्पन्न हुए (१९६०८५२९७६) इतने वर्ष बतलाते हैं। हम पूछते हैं कि, इससे प्रथम यह दुनिया नहीं थी, इसका "स्वामीदयानंदजी"के पास क्या प्रमाण हैं? इतने वर्षोंके पहिले यदि कुछ नहीं था तो फिर यह आया कहांसे? यदि कहो कि, यह जगत् उसवक्त इस रूपमें (जैसा कि इस वक्त देखा जाता है) नहीं था, किंतु सूक्ष्म (कारण) रूपमें था। हम पूछते हैं कि, प्रथम यह सूक्ष्म रूप क्यों बना? क्या इसको स्थूल रूप बुरा लगता था? यदि स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे स्थूल होना पदार्थका धर्म ही है, तो फिर ईश्वरका इसमें क्या संबंध है? यदि कहो कि, ईश्वर करता है, तो हम पूछते हैं कि, क्यों करता है? क्या ईश्वरसे यह काम किये विना रहा नहीं जाता? यदि कहो कि, सृष्टिको उत्पन्न करना और नाश करना उसका स्वभाव ही है, तो, इसपर हम कहते हैं कि, इस प्रकारका ईश्वरका स्वभाव है इसमें भी क्या प्रमाण? यदि कोई कहे कि, सृष्टिकी उत्पत्ति और नाशके बखेड़े से सदैव मुक्त रहना ही ईश्वरका स्वभाव है, तब उसमें क्या कहा जा सकता है.? । "उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता" इत्यादि लेखसे न मालूम "स्वामीजी" जैनोंपर क्या आक्षेप करना चाहते हैं? क्या जैन कर्म (क्रिया)को अनित्य नहीं मानते? जैन मतमें तो द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षासे

सभी पदार्थ नित्यानित्य अर्थात् उत्पत्ति विनाश और स्थिति वाले माने हैं।

सज्जनो! विचारसे देखा जाय तो "स्वामी दयानंदजी" इसमें अधिक दोषके भागी नहीं। क्यों कि, जैन सिद्धांतसे वे परिचित नहीं थे! जैन दर्शनका उनको इतना ही ज्ञान था जितना कि संस्कृत साहित्यका भारवाहिक एक ग्रामीणको होता है! शोक केवल इतना ही है कि, "स्वामीजी" जैन धर्मके रहस्यको समझे विना ही उसके खंडनमें प्रवृत्त हो गये। ऐसा करनेसे निःसंदेह मनुष्य मध्यस्थ जन समाजमें उपहासका पात्र होता है! इसी हेतुसे यदि कोई स्वामीजीके लिये "विच्छू-का मंत्र आता नहीं और सांप पकड़ने दोड़ते हैं" इस लोकोक्तिका कथन करे तो, सचमुच ही हम उत्तर देनेमें असमर्थ हैं!

संसारके लिये जैन धर्मका मंतव्य है कि, ऐसा कोई भी समय नहीं था, जब कि सर्वथा इसका अभाव हुआ हो; और नाही ऐसा कोई समय आवेगा, जब कि इसका सर्वथा अस्तित्व न रहे। किंतु यह प्रवाह रूपसे सदा ही ऐसा चला आता है और ऐसा ही चला जावेगा. इसीलिये इसको अनादि (आदि रहित) अनंत (अंत रहित) कहनेमें आता है. संसारके प्रत्येक पदार्थमें परिवर्त्तन (फेरफार) देखनेमें आता है, इसलिये यह उत्पत्ति विनाशवाला भी है; इसी हेतुसे इसको सादि सांत भी कहा जाता है. अब हम उसी प्राकृत श्लोकको यहां पर फिरसे शुद्ध लिखकर उसका अर्थ करके पाठकोंको बतलाते हैं, जिसका अर्थ करते हुए "स्वामीजी"को जैनोंका जगत्का अनादि मानना अच्छा नहीं लगा!

"सामि अणाइ अणंते, चउ गइ संसार घोर कंतारे।
मोहाइ कम्मगुरुठिइ-विवागवसओ भमइ जीवो॥"

सज्जनो ! यह सम्यक्त्वसार नामके छोटेसे प्राकृत ग्रंथका दूसरा श्लोक है, परमार्थ—तत्वका विचार करनेवाले जीवमें वैराग्य गर्भित प्रथम किस प्रकारकी भावना होती है ग्रंथकारने परमात्माकी स्तुतिद्वारा इस बातका वर्णन इस श्लोकद्वारा किया है. इसका अर्थ यह है कि, हे स्वामिन् ! चार प्रकारकी (देव, मनुष्य, नरक और तिर्यक्) गतिरूप अनादि अनंत घोर जंगलके समान इस संसारमें मोहनीय आदि कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिके विपाक (फल)के वशसे यह जीव भ्रमण कर रहा है ! अर्थात् कर्मोंके परिणाम वशसे यह जीव मनुष्य, पशु आदि अनेक जन्मोंको धारण करता हुआ इस संसारमें भ्रमण कर रहा ! । अब हम अपने पाठकोंसे निवेदन करते हैं कि, इस श्लोकमें क्या बुराई है ? जो इसपर "स्वामीजी"ने इतना हल्ला मचाया ! ! क्या संसारमें ऐसा कोई आस्तिक पुरुष (चाहे वो किसी धर्मको माननेवाला हो !) है ? जो इस कथनका विरोधी हो ! हां ! यदि "स्वामीजी"को जैनोंके नामसे ही चिड़ है तो इनका (जैन ग्रंथोंका) क्या दोष ? क्योंकि नेत्रोंके होनेपर ही सूर्यका प्रकाश काममें आसकता है !

प्यारे सभ्य पाठको ! जैनोंका कथन है कि, जिसकी आदि नहीं और नाही कभी अंत होनेवाला है ऐसे आदि और अंतसे शून्य इस संसार समुद्रमें शुभाशुभ कर्मोंके प्रभावसे भ्रमण करते हूए इस जीवको अनंत पुद्गलपरावर्त्त काल व्यतीत हो चुका है, और होगा, जबतक कि यह जीव; ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रयकी आराधनासे समस्त कर्मका क्षय करके मोक्षको प्राप्त नहीं होता !

जैनग्रंथोंमें पुद्गलपरावर्त्त कालका परिमाण इस प्रकारसे बतलाया है । नितांत सूक्ष्मकालका नाम समय है, असंख्य

समयोंकी एक आवली होती है, १६७७७२१६ आवलीका एक मुहूर्त्त होता है, ऐसे तीस मुहूर्त्तोंका एक दिन, पंद्रह दिनका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, एवं बारह मासका एक वर्ष होता है। चोरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग और इतने ही पूर्वांगोंके मिलनेसे एक पूर्व कहाता है। असंख्य पूर्वका एक पल्योपम, और दश कोटाकोटी पल्योपमका एक सागरोपम, एवं दश कोटाकोटी सागरोपमकी एक अवसर्पिणी, तथा दश कोटाकोटी सागरोपमकी एक उत्सर्पिणी, इन दोनोंके मिलनेसे अर्थात् वीस कोटाकोटी सागरोपमका एक कालचक्र होता है। ऐसे अनंत कालचक्रोंका एक पुद्गलपरावर्त होता है।*

इस विषयमें जैनोंकी दिल्लगी उड़ाते हुए हमारे "स्वामी महोदय" लिखते हैं—"सुनो भाई! गणित विद्यावाले लोगों! जैनियोंके ग्रंथोंकी काल संख्या कर सकोगे वा नहीं? और तुम इनको सच भी मान सकोगे वा नहीं? देखो इनके तीर्थंकरोंने ऐसी गणित विद्या पढ़ी थी। ऐसे२ तो इनके मतमें गुरु और शिष्य हैं जिनकी अविद्याका कुछ पारावार नहीं।" [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४२०]

[समालोचक] "स्वामीजी" के कथनानुसार थोड़ी देरके लिए हम यही मान लेते हैं कि, जैनोंको काल संख्याका ज्ञान नहीं था! इन्होंने गणित विद्या नहीं पढ़ी थी! इनके गुरु बुद्धिमान नहीं थे! परंतु 'स्वामीजी' तो सर्व विद्यामें निपुण और गणित विद्याके

*लोकप्रकाश नामके जैन ग्रंथके 'काललोक प्रकाश' नामके तृतीय प्रकरणमें इस विषयका सप्रमाण बड़े ही विस्तारसे निरूपण किया है, विशेष जिज्ञासु वहांपर देखनेकी अवश्य कृपा करें। इसके देखनेसे पाठकोंको यह भी बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी कि, "स्वामी दयानंदजी" का इस संबंधमें किया हुआ जैन तीर्थंकरोंका उपहास्य कहां तक सत्य है?

पारगामी हैं ! अस्तु ! हम इनकी ही सेवामें कालकी संख्याका परिमाण समझनेके लिए प्रार्थना करते हैं ! कृपया हमको " स्वामीजी " ही समझा देवें कि, कालकी यहां तक ही इति है ! इसके आगे बढ़नेके लिए "स्वामीजी" की आज्ञा नहीं ! परंतु "स्वामीजी महाराज" तो मर गये ! वहांसे आकर हमको कालकी संख्याका परिमाण बतावें इतनी तो आशा नहीं ! उनकी बनाई हुई पोथियोंको उलटा पुलटा कर देखते हैं तो वो भी बिचारी विधवा स्त्रियोंकी तरह उन्हीका नाम चिल्ला २ कर ले रही हैं ! उनको विधातासे भी एक फूट ऊंचा माननेवाले समाजी महाशय कदापि उनको पत्र लिखें तो संभव है कि, उनपर वे उत्तर लिखनेकी कृपा करें ! कि, (१९६०८९२९७६) वर्षपर कालकी संख्याका कीला गाड़ देना ! यदि कोई कहे कि, इससे प्रथम भी कालतो था, तो उसको कह देना तूं मूर्ख है ! तेरेको कुछ भी खबर नहीं ! यह देख " स्वामीजी महाराज" के हाथका लिखा हुआ पत्र ! जो कि उन्होंने अभी ही भेजा है !

सज्जनो ! दिनके बाद रात्रि, और रात्रिके बाद दिन, यह चक्र अनादिकालसे चला आता है, और इसी तरह चला आवेगा । संसारमें प्रतिदिन असंख्य प्राणी मरते हैं, और असंख्य ही उत्पन्न होते हैं । इस जन्म मरणकी परंपराका पता लगाना इतना ही असंभव है, जितनी कि समुद्रके जल बिंदुओंकी गणना करनी ! समय प्रवाहसे अनादि अनंत है, इसकी संख्या न किसीने की, और न कोई कर सकेगा । जो कुछ भी इसके परिमाणके विषयमें शास्त्रकारोंने लिखा है, वोह केवल जिज्ञासुको वस्तुतत्त्वके बोध करवानेके लिए लिखा गया है । इसी तरह एकसे लेकर परार्द्ध पर्यंत जो गणित

शास्त्रमें संख्याकी सीमा बांधी है उसका भी तात्पर्य यही है कि, यहां तककी संख्याको हम कथमपि व्यवहारमें ला सकते हैं । इससे अधिक संख्या नहीं, यह कदापि नहीं कह सकते। कूपका मेंडक यदि समुद्र जलकी अगाधताको न स्वीकार करे तो समुद्र जलकी अगाधता कभी नष्ट होने नहीं लगी। इतना कहकर हम " स्वामीजी " को हृदयसे धन्यवाद देते हैं, जो कि समस्त धर्माचार्योंको मूर्ख बतानेवाले आप भारतमें अकेले ही अनूठे विद्वान् पैदा हुए !

जैनमतमें समस्त जीवोंको संसारी और मुक्त इन दो वर्गोंमें विभक्त किया है. संसारी जीव स्थावर और त्रस भेदसे दो प्रकारके हैं. इन दोमेंसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, और वनस्पति, ये पांच स्थावर कहलाते हैं. इनसे भिन्नकी त्रससंज्ञा हैं. पृथिव्यादि पांच और त्रस इन छै को ही जैनमतमें षट्काय कहा है . पृथिवी जिन जीवोंका शरीर है उसको पृथिवीकाय कहते हैं. ऐसे ही जलादि चारमें भी समझ लेना. यहांपर इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिये कि, वैशेषिक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणादने वनस्पति (कंद, मूल, वृक्ष, पुष्प लता, गुल्मादि)को पृथिवीके अंतर्गत मानकर—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, इन चारोंमेंसे वनस्पतिको छोड़ बाकी किसीको भी सजीव नहीं माना ! अन्य दर्शनकारोंका भी बहुधा यही मत है ! परंतु जैनदर्शनका सिद्धांत इससे प्रतिकूल है । जैन मतमें तो वनस्पतिको पृथिवीसे भिन्न, तथा इन पृथिवी आदि पांचोंको सजीव माना है । अर्थात् जीवोंने परमाणुओंको ग्रहण कर कर्मोंके निमित्तसे असंख्य शरीरोंका जो पिंड रचा है वही पृथिव्यादि पांच काय कहे जाते हैं. इनको सजीव सिद्ध करनेके लिये जैनग्रंथोंमें बहुतसे प्रमाणोंका उल्लेख किया हुआ है.

उनका यहांपर उल्लेख करना कुछ आवश्यक नहीं है। समय आनेपर कहीं अन्यत्र किया जावेगा. उनपर विचार करके सत्यासत्यका निर्णय करना मध्यस्थवर्गका कर्त्तव्य है. त्रसको जीव माननमें तो किसीको भी विवाद नहीं। पृथिव्यादि पांच कायके जीव एकेंद्रिय कहे जाते हैं. अर्थात् स्पर्श आदि पांच इंद्रियोंमेंसे इनमें एक स्पर्श इंद्रिय ही होती है। इनके शरीर प्रमाण और आयुमानका जैन ग्रंथोंमें इसप्रकार वर्णन किया है।

पृथिव्यादि चार कायके शरीरका प्रमाण अंगुलका असंख्य भाग अर्थात् बहुत सूक्ष्म है. पृथिवकायके जीवका आयु न्यूनसे न्यून अंतर्मुहूर्त (दो घड़ीसे कुछ थोड़ा काल) और अधिकसे अधिक २२ सहस्र वर्षका हो सकता है। एवं जलकायके जीवका आयुमान न्यूनसे न्यून अंतर्मुहूर्त्त और अधिकसे अधिक सात हजार वर्षका हो सकता है। तथा अग्नि कायके जीवका आयु न्यूनसे न्यून जल जितना और अधिकसे अधिक तीन दिनका। वायुकायके जीवका आयुप्रमाण भी कमसे कम अंतर्मुहूर्त्तका और अधिकसे अधिक तीन हजार वर्षका हो सकता है। वनस्पतिके साधारण और प्रत्येक ये दो भेद हैं, साधारणमें कंदमूलादिकी गणना है और प्रत्येकसे वृक्षादि ग्रहण किये जाते हैं। साधारण वनस्पतिका शरीरमान पृथिव्यादिके समान है और आयुका प्रमाण अंतर्मुहूर्त मात्र है। प्रत्येक वनस्पतिका शरीरप्रमाण थोड़ेसे थोड़ा पृथिव्यादि जितना और अधिकसे अधिक एक सहस्र योजन तकका हो सकता है। आयु इसका न्यूनसे न्यून अंतर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक दश सहस्र वर्षका हो सकता है। मध्यकालका कुछ नियम नहीं, चाहे एक दिनका चाहे दश वर्षका हो.

त्रसकायके द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय ये चार भेद हैं. जिनके स्पर्श और रसना ये दो इंद्रिय होवें वे द्वींद्रिय कहाते

हैं. जैसे—जलौका, पूरे, काष्ट कीट, विष्टाके कीट, गंडोये और समुद्रमें उत्पन्न होनेवाले शंख, कौड़ी, शुक्ति आदि. इनका आयु न्यूनसे न्यून अंतर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक द्वादश वर्ष तकका हो सकता है। शरीरमान न्यूनसे न्यून पृथिवीके जीव जितना और अधिकसे अधिक द्वादश योजन। त्रीद्रिंय उसको कहते हैं, जिसके—स्पर्श, रसना और घ्राण ये तीन इंद्रिय हों। इनमें अनेक प्रकारकी पिपीलिका (कीड़ी) यूका, लिक्षा, माकड़, इंद्रकीट (वीरबहुटी) आदिकी गणना की जाती है। इनके आयुका प्रमाण न्यूनसे न्यून अंतर्मुहूर्तका और अधिकसे अधिक ४९ दिनका होसकता है। मध्य आयुकी स्थितिका कुछ नियम नहीं। इनका शरीर प्रमाण कमसे कम पृथिव्यादिके जीव जितना और अधिकसे अधिक तीन कोसका हो सकता है। मध्यम प्रमाणकी स्थिति नहीं। एवं स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इंद्रियोंसे जो युक्त हो उसको चतुरिंद्रिय कहा है। मक्खी, मच्छर, भ्रमर, पतंग, बिच्छु आदि जीव चतुरिंद्रियमें गिनें जाते हैं। इनका आयुमान भी न्यूनसे न्यून अंतर्महूर्तका है और अधिकसे अधिक छ मासका होसकता है। एवं इनका शरीर न्यूनसे न्यून अंगुलीका असंख्य भाग और अधिकसे अधिक एक योजनका होसकता है। मध्यम शरीरके परिमाणका कुछ नियम नहीं, चाहे कितना हो। जिनके पांचवीं श्रोत्र इंद्रिय होवे वे पंचेंद्रिय जीव कहे जाते हैं। इनमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी गणना की जाती है। इनका आयुमान तथा शरीरमान एवं अवांतर भेद जैनशास्त्रमें जुदा जुदा लिखा हुआ है। यहांपर यदि उन सबका उल्लेख किया जाय तो बहुत विस्तार हो जाय। यहां पर तो उतना ही लिखना आवश्यक समझा है कि, जितनेको 'स्वामीदयानंदजी'

ने रत्नसार ग्रंथका नाम लेकर अपनी इच्छाके अनुकूल उद्धृत करके जैन धर्मके नेताओंको मूर्ख बनाया है ! !

सज्जनो ! हमने जैनोंका जो मंतव्य ऊपर दिखाया है, वह भिन्न भिन्न वाक्यों द्वारा रत्नसार ग्रंथमें भी लिखा हुआ है। उसीको कुछ पेचीदासा लिखकर "स्वामीदयानंदजी" कहते हैं कि "अडतालीस कोसकी स्थूल जूं जैनियोंके शरीरमें पडती होगी और उन्होंने देखी भी होगी औरका भाग्य कहां जो इतनी बड़ी जूंको देखें !!! और देखो इनका अंधा धुंध वीछू बगाई कसारी और मक्खी एक योजनके शरीरवाले होते हैं इनका आयुमान अधिकसे अधिक छः महीनेका है। देखो भाई ! चार२ कोसका वीछू अन्य किसीने देखा न होगा जो आठ मील तकका शरीरवाला वीछू और मक्खी भी जैनियोंके मतमें होती हैं। ऐसे वीछू और मक्खी उन्हीके घरमें रहते होंगे और उन्होंने देखे होंगे अन्य किसीने संसारमें नहीं देखे होंगे कभी ऐसे वीछू किसी जैनिको काटते होंगे तो क्या होता होगा ?" इत्यादि [सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४२१] आगे पृष्ठ ४२२ में "क्या यह महा झूठ बात नहीं कि जिसका कदापि संभव न हो सके ! ॥" इत्यादि.

समालोचक—"स्वामीजी"का— "अडतालीस कोसकी स्थूल जूं जैनियोंके शरीरमें पड़ती होगी" लिखना सभ्यता और सत्यताकी सीमाको सर्वथा उल्लंघन कर रहा है ! जैनग्रंथोंमें अडतालीस कोसकी जूंका उल्लेख कहीं देखनेमें नहीं आता ! हम पाठकोंको ऊपर बतला चुके हैं कि, जैन मतमें तीन इंद्रियवाले जो जीव हैं उनका शरीर न्यूनसे न्यून अंगुलीके असंख्य भाग जितना और अधिकसे अधिक तीन कोसका माना है। अर्थात् तीन इंद्रियवाला जीव छोटेसे छोटा तो

अंगुलीके असंख्य भाग (अनुमान नैयायिकोंके माने हुए त्र्यणुक) जितना और यदि बड़े से बड़ा होतो तीन कोसके विस्तार जितना हो सकता है, उसके मध्य परिमाणका कुछ नियम नहीं। चाहे एक तिल जितना हो, चाहे चणे जितना हो, चाहे अंगुल परिमाणका हो, चाहे हाथ भरका हो। तीन इंद्रियवाले जीव कितने हैं इसकी संख्या तो न कोइ कर सका और न कर सकेगा! क्या "स्वामीजी" इनकी इयत्ता बतला सकेंगे?

तीन इंद्रियवाले जीव कौनसे हैं? इसमें च्यूंटी, जूं, खटमल आदिका निदर्शन मात्र जैन दर्शनमें बतला दिया गया है, तीन इंद्रियवाले यावत् जीव हैं उनमेंसे यदि कोइ बड़ेसे बड़ा हो तो इतने प्रमाण तकका हो सकता है, इस कथनका आशय न मालूम "स्वामीजी"ने यह कैसे निकाल लिया कि, अडतालीस कोसकी जूं जैनियों के शरीरमें पड़ती होगी! इसी तरह चार कोसका वीछू इत्यादि लेख भी "स्वामीजी" ने कुछ समझ कर लिखा हो ऐसा प्रतीत नहीं होता! क्योंकि, चार कोसका विछू होता है ऐसा उल्लेख जैन ग्रंथोंमें देखनेमें नहीं आता! जैन ग्रंथोंमें तो केवल इतना उल्लेख पाया जाता है कि, चार इंद्रियवाले जीवोंमेसे यदि कोई बड़ेसे बड़ा जंतु हो तो इतना हो सकता है. एक ही जातिके जीवोंमे न्यूनाधिक्य प्रत्यक्ष देखनेमें आता है! बकरी और हस्तीके शरीरमें कितना अंतर है? यह सभके प्रत्यक्ष है, परंतु पांच इंद्रियवाले जीवोंमे इन दोनोंकी ही समान गणना है! एवं बिल्ली और सिंह, तथा चिड़ी और बाज इत्यादि अनेक जीवोंमें प्रत्यक्ष महान् अंतर देखने पर भी इनका ग्रहण पंचेंद्रियमें किया जाता है. यदि कोई कहे कि—चूहा, बिल्ली, चिड़ी, कबूतर, बकरी आदि पांच इंद्रियवाले जीव हैं, इनका शरीर दो इंच, और अधिकसे अधिक

पंद्रह फूटका होता है तो क्या " स्वामीजी " के कथनानुसार इसका यह अर्थ करना चाहिये कि, लिखनेवाला पंद्रह फूटकी चिड़ी अथवा बिल्ली या कबूतर बतलाता है ? नहीं ! कदापि नहीं ! लिखनेवाला स्पष्ट बतला रहा है कि, पंचेंद्रिय जीवोंमें ऐसे भी कितनेक जीव हैं जो कि दो इंचके हो और ऐसे भी हैं कि जिनका पंद्रह फूटका शरीर होता है, जैसे हस्ती आदि जानवर. इसी प्रकार जैन ग्रंथोंके उल्लेखका आशय समझना चाहिये। अर्थात् चतुरिंद्रिय जीव यदि कोई बड़ेसे बड़ा हों तो वो एक योजन तकका हो सकता है, परंतु वह भी मक्खी या मच्छर अथवा विछू ही हो यह नियम नहीं. कल्पना करो कि, किसीने कहा कि मनुष्यादि प्राणी न्यूनसे न्यून एक सैकँड और अधिकसे अधिक सो वर्ष तकका आयु भोग सकते हैं, तो क्या इसका यह भी अर्थ हो सकता है ? कि—कोई चार दिन या दश दिनका आयु भोग कर नहीं मरता ! नहीं ! सर्वथा नहीं ! अथवा कोई कहे कि, मनुष्य न्यूनसे न्यून तीन हाथका और अधिकसे अधिक सात हाथका ऊंचा होता है, तो क्या इस कथनसे चार अथवा पांच हाथके मनुष्यका अभाव ही समझना चाहिए ? हम नहीं समझते कि, फिर " स्वामीजी " ने उक्त विषयको महाझूठ कहते हुए क्यों नहीं संकोच किया ?

[ग]

स्वामी दयानंद स०——अब सुनिए भूमिके परिमाणको (रत्नसार भा. पृ. १९२) इस तिरछे लोकमें असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं इन असंख्यातका प्रमाण अर्थात् जो अढाई सागरोपम कालमें जितना समय हो उतने द्वीप तथा समुद्र जानना अब इस पृथिवीमें एक " जंबूद्वीप " प्रथम

सभ द्वीपोंके बीचमें है इस का प्रमाण एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोशका है और इसके चारों ओर लवण समुद्र है उसका प्रमाण दो लाख योजनका है अर्थात् आठ लाख कोशका। इस जंबूद्वीपके चारों ओर जो " धातकी खंड " नाम द्वीप है उसका चार लाख योजन अर्थात् सोलह लाख कोशका प्रमाण है और उसके पीछे "कालोदधि" समुद्र है उसका आठ लाख अर्थात् बत्रीस लाख कोशका प्रमाण है उसके पीछे "पुष्करावर्त" द्वीप है उसका प्रमाण [1]सोलह कोशका है। [2]उस द्वीपके भीतरकी कोरें हैं उस द्वीपके आधेमें मनुष्य वसते हैं और उसके उपरांत असंख्य द्वीप समुद्र है उनमें तिर्यक् योनिके जीव रहते हैं। (रत्नसार भा. पृ. १९२) जंबूद्वीपमें एक हिमवंत, एक ऐरण्यवंत, एक हरिवर्ष, एक रम्यक, एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु ये छः क्षेत्र हैं। (समीक्षक) सुनो भाई ! भूगोल विद्याके जाननेवाले लोगो ! भूगोलके परिमाण करनेमें तुम भूले या जैन ? जो जैन भूल गये हों तो तुम उनको समझाओ और जो तुम भूले हों तो उनसे समझ लेओ। थोड़ासा विचार करके देखो तो यही निश्चय होता है कि जैनियोंके आचार्य और शिष्योंने भूगोल खगोल और गणित विद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी जो पढ़े होते तो महा असंभव गपोड़ा क्यों मारते ? भला ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत्को अकर्तृक और ईश्वरको न माने इसमें क्या आश्चर्य है ? [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४२२]

---

(१) यहांपर स्वामीजी भूल गये हैं उनको सोलह कोसके स्थानमें सोलह लाख योजन लिखना चाहिए था ! ॥

(२) यह स्वामीजीकी भाषा, वाक्यरचना तथा उसके परस्परके संबंधका नमूना है ! न मालूम क्या समझ कर स्वामीजीने इसको लिख मारा ? ॥

[घ]

इस लिये जैनी लोग अपने पुस्तकोंको किन्हीं विद्वान् अन्य मतस्थोंको नहीं देते क्योंकि जिनको ये लोग प्रामाणिक तीर्थंकरोंके बनाये हुए सिद्धांत ग्रंथ मानते हैं उनमें इसी प्रकारकी अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं इस लिये नहीं देखने देते जो देवे तो पोल खुल जाय इनके विना जो कोई मनुष्य कुछ भी बुद्धि रखता होगा वह कदापि इस गपोडाध्यायको सत्य नहीं मान सकेगा। [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४२२]

[च]

यह सभ प्रपंच जैनियोंने जगत्को अनादि माननेके लिये खड़ा किया है परंतु यह निराझूट है हां जगत्का कारण अनादि है क्योंकि परमाणु आदि तत्व स्वरूप अकर्तृक हैं. परंतु उनमें नियमपूर्वक बनने वा विगडेनेका सामर्थ्य कुछ भी नहीं क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसीका नाम है और स्वभावसे पृथक् रूप और जड़ हैं वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते इसलिये इनका बनानेवाला चेतन अवश्य है वह बनानेवाला ज्ञानस्वरूप है देखो पृथिवी सूर्यादि सभ लोकोंको नियममें रखना अनंत अनादि चेतन परमात्माका काम है जिसमें संयोग रचना विशेष दीखता है वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता इत्यादि [सत्यार्थ प्र. पृ. ४२३]

[छ]

इन जैन लोगोंको स्थूल बातका भी यथावत् ज्ञान नहीं तो परम सूक्ष्म सृष्टि विद्याका बोध कैसे हो सकता है ? [स. प्र. ४२३]

[ग]

समालोचक-हमारे ख्यालमें न तो जैन भूले और न अन्य लोग, किंतु स्वामी महोदय ही भूल रहे हैं ! अस्तु !

स्वामीजीके निश्चयके अनुसार हम थोड़े समयके लिये यही मान लेते हैं कि, जैनाचार्योंको भूगोल खगोल विद्याका ज्ञान नहीं था ! वे बिचारे कुछ भी पढ़े लिखे नहीं थे ! इसीलिये उन्होंने असंभव गपौड़े लिख मारे ! परंतु " स्वामीजी " इन सर्व दूषणोंसे मुक्त थे ! अतः हम उन्हींकी लिखी हुई पुस्तकोंसे भूगोल खगोलके समझनेकी जिज्ञासा करते हैं ! परंतु शोक है कि, उनके रेल तारवाले वेदोंके पोथोंको भी कई दफा उलटा पुलटा कर देखा, मगर भूगोल खगोलके विषयमें तो कुछ भी लिखा न पाया ! जैन ग्रंथोंमें वर्णन किये हुये भूगोल खगोलको गपौड़ा बतलानेवाले स्वामीजी महाराज, यदि अपने सच्चे माने हुए भूगोल खगोलके उल्लेखसे अपने किये ऋग् अथवा यजुर्वेद भाष्यके पांच सात पृष्ठोंको रंग जाते तो लोगोंको भी बहुत लाभ होता ! और हमको भी स्वामीजी और जैनोंके भूगोल खगोलके विषयमें विचार करके सत्यासत्य के निर्णय करनेका समय मिलता ! परंतु खेद है कि, स्वामी महोदयने स्वयं इस विषयमें कुछ निर्णय न करके केवल जैनके आचार्योंको मूर्ख कहनेमें ही अपनी बुद्धिमत्ताको चरितार्थ किया !

पाठक महोदय ! क्षमा कीजिए ! हम स्वामीजीके उन अंध भक्तोंमेंसे नहीं हैं, जोकि उनकी निर्मल कीर्तिको कलंकित करने के लिए महर्षि पदको हाथमें लिए उनके पीछे भाग रहे हैं । सज्जनो ! सृष्टिके परिमाणकी इयत्ता मनुष्य बुद्धिसे बाहिर है । मनुष्य अपने परिमित बुद्धि वैभवसे जिस सिद्धांतको आज स्थिर करता है, कल उसीके विरुद्ध शतशः प्रमाणों के उपलब्ध होने से उसीको वह अस्थिर एवं असंगत मानने लगता है । जिस नवीन सायन्स के हम लोग भक्त बन रहे हैं वह, आज जिस सिद्धांतको स्थिर करता है कल उसीको खंडन

करता नजर आता है । जो लोग, आजसे अनुमान तीस वर्ष प्रथम, उत्तरध्रुव प्रदेशमें मनुष्यों की वसती के घोर विरोधी थे, वही आज कह रहे हैं कि, उत्तरध्रुव प्रदेश किसी समय मनुष्य वसती के योग्य था, अर्थात् वहां मनुष्य निवास करते थे । हमारे विचारमें तो जिन लोगोंका यह मत है कि, पृथिवी एतावन्मात्र ही है, निस्संदेह वे लोग भ्रममें हैं । समय आवेगाकि, उन्हे बलात्कारसे अपनी इस निर्बल मान्यता को पीछे खेंचना पड़ेगा ! "भला ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत् को अकर्तृक और ईश्वरको न माने तो क्या आश्चर्य है" स्वामीजीका यह लेख कुछ अधिक विचार से संबंध रखता हो ऐसा नहीं ! इस लिए इसपर विशेष कुछ न कहकर पाठकों से इतना ही निवेदन करते हैं कि, ईश्वरको तो जैन मानते हैं, परंतु स्वामीजी के माने हुए ईश्वरसे उसका अंतर बहुत है ! इसका रहस्य कहीं अन्यत्र प्रदर्शित किया जावेगा.

[घ]

स्वामीजी के "इसी लिए जैनी लोग अपने पुस्तकोंको" इत्यादि लेखसे विदित होता है कि, उन्होंने संसार पर बहुत उपकार किया ! आशा नहीं कि, उनके इस ऋणसे सभ्य संसार सद्यःमुक्त हो सके ! क्योंकि अपनी पोल खुल जाने के भयसे जैनी लोग जिन अपने पुस्तकोंको अन्यमतके विद्वानोंसे छिपाते थे, उनको देखनेके लिए देने से इनकार करते थे, स्वामीजीने किसी न किसी तरह उन सबको देखकर जैनोंकी पोल खोल ही दी ! विशेष हर्षकी बात तो यह है कि, "स्वामीजी" कुमारिल भट्टसे भी प्रथम नंबर में निकले ! क्योंकि, कुमारिल भट्ट तो, अपने जीवनका आधा भाग बौद्धग्रंथोंके अभ्यासमें लगाकर उनके खंडनमें प्रवृत्त हुए थे ! स्वामी दया-

नंदजी तो, कुक्कुटमिश्रकी तरह जैनग्रंथोंकी सुगंधि मात्रसे ही कृतकृत्य होकर उनके खंडन के लिए कूद पड़े हैं ! परंतु "लेने गई पूत और खो आई खसम" वाली कहावत से जैनों की पोल खोलते खोलते स्वामीजी, अपनी ही पोल खुला बैठे!! स्वामी महोदयका निरूपण किया हुआ सप्तभंगीवाद इस बातका–पोल खुलनेका वड़ा ही प्रौढ साक्षी है !

सज्जनो ! मयूरका नृत्य देखनेमें लोगोंकी जितनी अभिरुचि होती है, उससे द्विगुण अरुचि उसके पिछले भागको अवलोकन करनेसे उत्पन्न होती है ! हम स्वामीजीके वाक्यपर विश्वास कर सकते हैं, यदि वर्त्तमान समय हमारा गला न दवावे ! वर्त्तमान समयमें जैनमतके सहस्रों ग्रंथ प्रचारमें आए हुए देखे जाते हैं, और जैन समाजके अग्रेसर इनको और भी प्रचारमें लानेके लिए यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं ! कुमारिल भट्टसे लेकर प्राचीन जितने आचार्योंके ग्रंथ उपलब्ध होते हैं उन सबमें जैन सिद्धांतका उल्लेख और प्रतिवाद पाया जाता है ! यदि स्वामीजीके लेखानुसार, जैन लोग अपने ग्रंथोंको छिपा रखते थे तो, उनमें जैनमतका उल्लेख किस तरह किया गया ? जैन ग्रंथोंको गपोडाध्याय वतलाना स्वामीजीके लिए कोई नई वात नहीं ! परपुरुषके साथ अवाच्य व्यवहारमें यदि संकोच होगा तो, पतिव्रताको होगा ! अन्यका तो वह कर्त्तव्य ही है !!

[च]

स्वामीजी जगतको अनादि स्वीकार करना, निरा झूठ वतलाते हैं ! परंतु इसपर यूं कहना कि, जगत्को सर्वथा सादि मानना ही निरा झूठ है, हमारे ख्यालमें कुछ अधिक उचित प्रतीत होता है। क्योंकि जो लोग सृष्टिको ईश्वरकी कृति

मानते हैं उनको भी सृष्टिके बाद प्रलय, और प्रलयके अनंतर सृष्टि, इस परंपराको अनादि ही स्वीकार करना होगा। अन्यथा सृष्टिके संबंधमें मुसलमान और ईसाइ मतसे कुछ भी विशेष नहीं।

"स्वामीजी" स्वयं लिखते हैं कि, "धाता परमात्माने जिस प्रकारके सूर्य चंद्र द्यौ भूमि अंतरिक्ष और तत्रस्थ मनुष्य विशेष पदार्थ पूर्व कल्पमें रचे थे वैसे ही इस कल्पमें अर्थात् इस सृष्टिमें रचे हैं" [सत्या० पृ० २३१] स्वामीजीके उक्त लेखसे स्पष्ट मालूम होता है कि, सृष्टि प्रवाहसे अनादि है। यदि स्वामीजीका दूसरा लेख देखा जाय तब तो, इस बातमें रहा सहा संदेह भी दूर हो जाता है। तथा हि-(सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २२३) "(प्रश्न) कभी सृष्टिका प्रारंभ है वा नहीं ? (उत्तर) नहीं जैसे दिनके पूर्व रात और रातके पूर्व दिन तथा दिनके पीछे रात और रातके पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टिके पूर्व प्रलय और प्रलयके पूर्व सृष्टि तथा सृष्टिके पीछे प्रलय और प्रलयके आगे सृष्टि अनादि कालसे चक्र चला आता है इसकी आदि वा अंत नहीं."

सज्जनो! स्वामीजीके इस लेखको बड़ी सावधानीसे पढना! स्वामीजी अपने आप सृष्टिको प्रवाहसे अनादि मानते हुए भी सृष्टिको अनादि कहना निरा झूठ बतलाते हैं। एक स्थानमें तो सृष्टिको अनादि बतलाना, और दूसरी जगह उसको निरा झूठ कहना! न मालूम स्वामीजीकी यह उच्छृंखलता, क्या तात्पर्य रखती है? अस्तु! स्वभावो दुरतिक्रमः!! स्वामीजी जगत्को तो अनादि नहीं मानते, परंतु उसके कारण परमाणुओंको अनादि स्वीकार करते हैं, उनमें नियम पूर्वक बनने और बिगड़नेका सामर्थ्य नहीं है। क्यों कि, वे स्वभावसे पृथक् स्वरूप हैं, इसलिए इनके बनाने और बिगाड़नेका काम ईश्वरको सपुर्द किया गया

है!। इस विषयमें हम अन्यत्र लिखनेके लिए पाठकोंसे प्रतिज्ञा-बद्ध हो चुके हैं क्यों कि, यह विषय बड़ा विस्तृत और गंभीर है! यहां पर तो हम " परमाणु स्वभावसे पृथक् और जड़रूप हैं " स्वामीजीके इतने लेख परही विचार करते हैं।

(१) परमाणु यदि स्वभावसे ही पृथक् स्वरूप हैं तो, उनको संमिलित करनेका ईश्वरको क्या अधिकार है? यदि उनके पृथक् स्वभावको भी संमिलित करनेमें ईश्वर समर्थ है तो, परमाणुओंके जड़ स्वभावको बदलकर उन्हें चेतन क्यों नहीं बना देता?

(२) परमाणुओंका पृथक् स्वभाव, नित्य है? अथवा अनित्य है? यदि नित्य माना जाय तब तो स्वामीजीको सृष्टिसेही हाथ धोने पड़ेंगे! क्यों कि, विना परमाणुओंके मेलसे सृष्टि, हो नहीं सकती! और मेल हुआ तो, उनका पृथक् स्वभाव गया! इसलिए नित्य पक्षको त्यागकर यदि अनित्य पक्षको ही स्वीकार किया जावे तो, हम पूछते हैं कि, उसको किसने बनाया? कब और क्यों बनाया? इसका उत्तर स्वामीजीके किसी पुस्तक रत्नसे मिले ऐसी तो आशा पाठकोंको स्वप्नमें भी न करनी चाहिये! हां यदि उनके भाषा संग्रहको ही समझनेकी हममें योग्यता नहीं, तब तो उन ग्रंथोंका ही दुर्भाग्य समझना चाहिये!! सज्जनो! स्वामी दयानंद सरस्वतीजी जैन सिद्धांतसे कुछ भी परिचय नहीं रखते थे! हमारा यह कथन, किसी पक्षपातको लेकर नहीं है, किंतु स्वामीजीका उक्त लेख ही मध्यस्थ समाजके समक्ष मूंह फाड़ फाड़कर उनकी अनभिज्ञताकी साक्षी दे रहा है! यदि स्वामीजी जैन मतका थोड़ासा भी ज्ञान रखते होते तो, उनको इस प्रकारके इंद्रजालकी रचना करनी न पड़ती! सृष्टीके विषयमें जैन सिद्धांत बड़ाही सरल और स्पष्ट है!

जैन सिद्धांतमें वस्तुका सर्वथा उच्छेद स्वीकार नहीं किया गया, किंतु उत्पत्ति और विनाश रूप पर्यायके होनेपर भी द्रव्य रूपसे पदार्थ स्थिर रहता है; इसलिये पदार्थ मात्र, उत्पत्ति–स्थिति–विनाश इन तीन अवस्थाओंसे युक्त है। सृष्टिको द्रव्यकी अपेक्षासे अनादि अनंत और पर्यायकी अपेक्षा सादि सांत कथन करना जैनोंका बहुत उचित प्रतीत होता है। क्योंकि, यदि हम विश्व-समुदायको लेवें तब तो, यह अनादि अनंत है वह समस्त पदार्थोंका समुदाय है, यह समुदाय हर समय वैसेका वैसा ही बना रहता है। इसलिए समुदाय रूपसे यह विश्व अनादि और अनंत है। यदि उसमेंसे किसी एक भागकी तर्फ दृष्टि करें-तो उसमें हर समय फेरफार होता देखनेमें आता है, इसलिए इस अपेक्षासे हम संसारको सादि सांत भी कह सकते हैं।

[छ]

स्वामीजी कहते हैं कि, " जैन लोगोंको स्थूल वातका भी ज्ञान नहीं तो परम सूक्ष्म सृष्टि विद्याका वोध कैसे हो सकता है ? " इससे हमारे पाठक यह तो समझ गये होंगे कि, स्थूल सूक्ष्म सब प्रकारके ज्ञान भंडारकी ताली विधाताने स्वामीजीके ही सपुर्द की हुई थी! इस लिए जैन एवं अन्य मतके विद्वान् जो ज्ञानसे शून्य रह गये वह, स्वामीजीकी ही कृपणताका फल है! यदि स्वामीजी, थोड़ीसी भी उदार वृत्ति धारण करते तो, उनको समस्त धर्मके आचार्योंको मूर्ख कहनेके लिए बहुतसे श्वेतपृष्ठ वृथा काले करने न पड़ते! अस्तु! जैनोंका पीछा छोड़कर हम, स्वामीजीसे ही सृष्टिके परम सूक्ष्म तत्त्वको समझनेकी प्रार्थना करते हैं! परंतु स्वामीजीका नाम लेनेपर भी उनके ग्रंथों तक ही पहुंचना होगा! इसलिये चलो

पहले स्वामिनिर्मित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकासे ही मुलाकात करते हैं। संभव है वहांसे ही हमारा मनोरथ सिद्ध हो जाय!!

प्यारे सभ्य पाठको! ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकाके सृष्टि विद्या विषयसे सृष्टि संबंधि जिस सूक्ष्म तत्त्वकी हमे प्राप्ति हुई है, उससे आप लोग, कदापि वंचित न रह जायें इसलिए हम उसको यहांपर उद्धृत कर देते हैं। आशा है कि, आप लोग उसको ध्यानसे पढ़ेंगे!

"जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब तक एक सर्व शक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत्का कारण अर्थात् जगत् बनानेकी सामग्री विराजमान थी उस समय शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता सो भी नहीं था उस समय सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था उस समय परमाणु भी नहीं थे" इत्यादि–[ऋगवेदादि भाष्य भूमिका पृष्ट ११७]

इसके आगे फिर पृष्ट १२४ में "उसी पुरुषकी सामर्थ्यसे घोडे और बिजुली आदि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। जिनके मुखमें दोनो ओर दांत होते हैं उन पशुओंको उभयदत कहते हैं वे ऊंट गधा आदि उसीसे उत्पन्न हुए हैं उसीसे गाय पृथिवी किरण और इंद्रिय उत्पन्न हुई हैं इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसीसे उत्पन्न हुई हैं" इत्यादि–

हमारे पाठक, स्वामीजीके बतलाए हुए सृष्टि संबंधि सूक्ष्म तत्त्वसे अब तो अच्छी तरह परिचित हो गए होंगे!! पाठक महोदय! देखना! सृष्टि विद्याके ऐसे सूक्ष्म तत्वको हाथसे जाने मत देना! संभव है कि, इस प्रकारके सृष्टि विद्या संबंधि सूक्ष्म रहस्योंका समझानेवाला, स्वामीजी जैसा उपकारप्रिय मनुष्य, फिर इस संसारमें पैदा न हो!!

स्वामीजीके इस महान् उपकारका बदला देनेमें यद्यपि हम समर्थ नहीं हैं ! तथापि स्वामीजीके लिखे हुए इस नवीन सृष्टि विद्यारूप सूक्ष्म तत्त्वके विषयमें एक मध्यस्थ पुरुषके हृदयमें जितने संदेह उत्पन्न होते हैं उनमेंसे दो चारका भी संतोष जनक समाधान कहींसे मिल सके ऐसी आशा नहीं ! ! स्वामीजीने सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व एक ईश्वर, और दूसरी जगत्के बनानेकी सामग्री, यह दो पदार्थ बतलाए हैं; परंतु वह सामग्री कौनसी समझनी ? इसका उन्होंने कुछ भी पता नहीं दिया ! कदापि प्रकृति अथवा परमाणु यह सामग्री समझें, क्योंकि सत्यार्थ प्रकाशमें उन्होंने प्रकृति और परमाणुओंको अनादि नित्य बतलाया है ! जैसे—" प्र० क्या प्रकृति परमेश्वरने उत्पन्न नहीं की ? उ० नहीं वह अनादि है " [पृष्ठ २०८] " हां जगत्का कारण अनादि है क्योंकि वह परमाणु आदि तत्व स्वरूप अकर्त्तृक हैं " [पृष्ठ ४२३

परंतु स्वामीजी तो यहांपर उस वकत उनके अस्तित्वको भी जबाब दे रहे हैं ! यदि सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रथम आकाश भी नहीं था और प्रकृति भी नहीं परमाणु भी नहीं थे तो, इनके अतिरिक्त वह कौनसी सामग्री थी ? कि जिससे स्वामीजी महाराजके ईश्वरने भेड़, वकरी, गधा, घोडा, ऊंट, हाथी और गाय आदिके शरीरके ढांचे बनाये ! एक स्थानमें तो प्रकृति और परमाणुको अनादि कहना, और दूसरी जगह सृष्टिके पूर्व उनका अभाव बतलाना ! हम नहीं कह सकते कि, इस प्रकारके उन्मत प्रलापको मध्यस्थ समाज किस कक्षामें स्थान देगा !

फिर—ईश्वरसे भेड़, वकरी, गधे, घोडे उत्पन्न हुए, इसका क्या अर्थ ? क्या ईश्वरको इनका प्रसूत हुआ ? अथवा ईश्वरके

पास कोई गधे, घोड़े, बकरी, भेड़ आदि पैदा करनेवाली मशीन है ? समझमें नहीं आता कि, स्वामीजी हमको क्या सूक्ष्म तत्व समझा रहे हैं ? अस्तु ! अब हम, सत्यार्थ प्रकाशके सृष्टि संबंधि सूक्ष्म तत्वको सुनते हैं, संभव है उसीसे हमको कुछ लाभ हो।

" प्र० सृष्टिके आदिमें एक वा अनेक पुरुष उत्पन्न हुए थे वा क्या ? उ० अनेक क्योंकि जिन जीवोंके कर्म ऐश्वरी सृष्टिमें उत्पन्न होनेके थे उनका जन्म सृष्टिके आदिमे ईश्वर देता है क्योंकि "मनुष्या ऋषयश्च ये । *ततो मनुष्या अजायंत" यह यजुर्वेदमें लिखा है इस प्रमाणसे यही निश्चय है कि आदिमें अनेक अर्थात् सैंकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए। प्र० आदि सृष्टिमे मनुष्य आदिकी बाल्या युवा वा वृद्धावस्थामें सृष्टि हुई थी अथवा तीनोमे ? उ० युवावस्थामे क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता तो उनके पालनके लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्थामे बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती इसलिए युवावस्थामे सृष्टि की है " [पृ. २२२]

[समालोचक]—हमारे पाठक उन पंक्तियोंको ध्यानसे पढ़ें जो कि मोटे टाइपमें हैं। यहां पर हमारी सृष्टिक्रमके सिद्धांतकी डुगडुगी पीटनेवाले नवीन आर्य महाशयोंसे प्रार्थना है कि, विना ही मां बापके हजारों जवान आदमिओंका पैदा होना सृष्टि नियमके अनुकूल है वा प्रतिकूल ? यदि सृष्टि नियमके अनुकूल है तो, विना मां बापके कोई मनुष्य पैदा हुआ बतलाओ। यदि स्वामीजीके उक्त कथनको सृष्टिक्रमके विरुद्ध समझते हैं ! तब तो उनको, स्वामीजीसे पूछना चाहिये

* यह वाक्य यजुर्वेदमें कहीं नहीं ! स्वामीजीने वृथा ही यजुर्वेदका नाम लिया है !

कि उन्होंने इस प्रकारकी असंभव गप्प क्यों मारी ? ईश्वरके पास यदि विना माता पिताके सहस्रों जवान मनुष्य पैदा करनेका कोई लायसन्स है तो, वो अब किसने खोस लिया ? अब यदि एक आधा ही पैदा कर देवे तो, बिचारे स्वामी दयानंद सरस्वतीके सिरपर तो कख रह जावें ! यदि कहा जावे कि, ईश्वर प्रथम तो उत्पन्न करता है अब नहीं ! तो इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि, प्रथम करता है इसमें ही क्या प्रमाण ? अस्तु ! स्वामीजी, हमारे श्रद्धेय हैं ! वे बड़े योगिराज थे ! उनको ईश्वरीय ज्ञान था ! ईश्वरने अन्य ऋषियोंकी तरह उनके निर्मल हृदयमें सत्य विद्याके भंडार वेदोंका प्रकाश किया था ! इसलिए उनकी गप्पको भी हमें निर्भ्रान्त ही मानना चाहिये ! परंतु शोक कि, हम इतना स्वीकार करनेमें भी विवश हैं ! क्योंकि, स्वामीजी महाराज कहते हैं । " ऐसी ऐसी (सृष्टिक्रमसे विरुद्ध) वातोंको आंखके अंधे गांठके पूरे लोग मानकर भ्रमजालमें गिरते हैं " देखो सत्यार्थप्रकाश (पृष्ठ ४९०) में ईसाई मतका खंडन करते हुए स्वामीजी फरमाते हैं—" इन वातोंको कोई विद्वान् नहीं मान सकता कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाण और सृष्टि क्रमसे विरूद्ध हैं इन वातोंका मानना मूर्ख मनुष्य जंगलियोंका काम है सभ्य विद्वानोंका नहीं भला जो परमेश्वर का नियम है उसको कोई तोड़ सकता है ? जो परमेश्वर भी नियमको उलटा पलटा करे तो उसकी आज्ञाको कोई न माने और वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम है ऐसे तो जिस २ कुमारिका के गर्भ रह जाय तव सब कोई ऐसे कह सकते हैं कि, इसमें गर्भका रहना ईश्वरकी ओरसे और झूंठ मूंठ कहदे कि परमेश्वर के दूतने मुझको स्वप्नमें कह दिया कि यह गर्भ परमात्माकी ओरसे है जैसा यह असंभव प्रपंच रचा है वैसा ही सूर्यसे

कुंतिका गर्भवती होना भी पुराणोंमे असंभव लिखा है ऐसी २ बातोंको आंखके अंधे गांठके पूरे लोग मानकर भ्रमजालमें गिरते हैं।"

सज्जनो! हमारे पूज्य महात्मा स्वामी दयानंद सरस्वतीजी, उक्तलेखसे सृष्टिक्रमके विरूद्ध बातको लिखने और माननेवालोंको जंगली मूर्ख आंखके अंधे और गांठके पूरे भ्रमजालमें गिरे हुए बतलाते हैं, परंतु ईश्वरने मां बापके विनाही हजारों जवान स्त्री मनुष्य पैदा कर दिये! एवं भेड़, बकरी और गधे आदि पशुभी पैदा कर दिये! इस प्रकार का सर्वथा सृष्टिक्रम विरूद्ध कथन करनेवाले, सरस्वती महोदय को किस श्रेणीमें समझना चाहिये? यह हमारा पाठकोंसे विनयपूर्वक प्रश्न है! हममें इतना साहस नहीं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरूद्ध बातोंके कथन करनेवाले स्वामीजीको उनके स्वभावके अनुसार उनको जंगली आंखका अंधा अथवा गांठका पूरा इत्यादि कह सकें! परंतु शोक तो इतना ही है कि, स्वामीजी ने स्वयं तो सृष्टिक्रमसे विरुद्ध बातोंको लिखनेमें संकोच नहीं किया! और ईसाई मतके कथनको जंगलियोंका कथन बतलाया है!!

अस्तु! स्वामीजी के बतलाए हुए सृष्टि संबंधि सूक्ष्म तत्वसे तो हमारे पाठक परिचित्त हो गए हैं! स्वामीजी के सृष्टि प्रकरणके विषयमें हमें बहुत कुछ कहना है! परंतु कहीं अन्यत्र कहेंगे।

"द्रव्य पर्याय और स्वामी दयानंद"

स्वा. द.—"जो जैनी लोग सृष्टिको अनादि अनंत मानते और द्रव्य पर्यायोंको भी अनादि अनंत मानते हैं और प्रतिगुण प्रतिदेशमें पर्यायों और प्रतिवस्तुमें भी अनंत पर्यायको

मानते हैं यह प्रकरण रत्नाकरके प्रथम भागमें लिखा है। यह भी बात कभी नहीं घट सकती क्योंकि जिनका अंत अर्थात् मर्यादा होती है उनके सब संबंधि अंतवाले ही होते हैं यदि अनंतको असंख्य कहते तो भी नहीं घट सकता किंतु जीवा-पेक्षामें यह बात घट सकती हैं परमेश्वरके सामने नहीं। क्योंकि एक २ द्रव्यमें अपने२ एक२ कार्य करण सामर्थ्यको अविभाग पर्यायोंसे अनंत सामर्थ्य मानना केवल अविद्याकी बात है जब एक परमाणु द्रव्यकी सीमा है तो उसमें अनंत विभाग रूप पर्याय कैसे रह सकते हैं ? ऐसे ही एक एक द्रव्यमें अनंत गुण और एक गुण प्रदेशमें अविभाग रूप पर्यायोंको भी अनंत मानना केवल बालकपनकी बात है क्योंकि जिसके अधि-करणका अंत है तो उसमें रहनेवालोंका अंत क्यों नहीं ? ऐसी ही लंबी चोड़ी मिथ्या बातें लिखी हैं। ” [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४२३]

समालोचक—जैन धर्मके सिद्धांतसे स्वामीजी अणुमात्रभी परिचित नहीं थे, यह बात निर्विवाद है ! क्योंकि जिस जिस स्थलमें पूर्वपक्ष द्वारा उन्होंने जैन मतका उल्लेख किया है उनमें इतनी भूलें हैं कि, यदि उन सबको दिखलानेके लिए थोड़ा थोड़ा भी लिखा जाय तो संभव है कि, सत्यार्थ प्रकाश जितना एक अन्य पुस्तक बन जाय ! उदाहरणके लिए बारहवां समुल्लास संपूर्ण प्रस्तुत है ! !

जैन सिद्धांतमें द्रव्य और पर्यायका क्या लक्षण बतलाया है ? एवं गुण और पर्यायमें कितना अंतर है ? तथा प्रतिवस्तुमें अनंत पर्यायका होना जैन किस पद्धतिसे मानते हैं और अनंत शब्दका उनके मतमें सांकेतिक अर्थ क्या है ? इत्यादि बातों-को यदि स्वामीजी किसी योग्य जैन विद्वान्से अच्छी तरह

समझ लेते तो संभव था कि, उनकी जो वृथा ही अन्य मतोंपर निर्बल अपवाद लगानेकी आदत थी ! वह इस विषयको लिख-कर उसपर आक्षेप करती हुई कुछ शरमाती !

प्रतिवस्तुमें अनंत पर्याय स्वीकार करनेको स्वामीजी अविद्या और बालक पनकी बात बतलाते हैं ! उसमें आप युक्ति देते हैं कि, जो वस्तु अंत अर्थात् मर्यादावाली होती है उसके संबंधि भी अंतवाले ही होते हैं ! परंतु स्वामीजीका यह कथन उनकी जैनमत संबंधि मुग्धताका पूर्ण सूचक है ! जिस प्रकारसे जैन मंतव्यको दिखा कर स्वामीजी उसका खंडन करते हैं, जैन इस प्रकारसे मानते ही नहीं ! जैनोंका कथन है कि, पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है, ऐसा कोई समय नहीं है कि, जिस समय वस्तुमें फेरफार न होता हो, अन्यथा जो वस्तु आजसे दश वर्ष पूर्व देखी है आज उसमें अंतर क्यों देखा जाता है ? यदि परमाणुओंमें परिवर्त्तन न होता हो तो उसके समुदायमें कहांसे आया ? इसलिए हर समय वस्तुमें फेरफार होता रहता है । यदि ऐसा न हो तो, वस्तु, सदा एक रूप-में ही रहनी चाहिये ! आजसे एक हजार वर्ष पूर्वकी बनी हुई किसी एक वस्तुमें आज तक कितना फेरफार हो चुका है इसकी संख्या क्या स्वामीजी अथवा अन्य कोई कर सकता है ? यदि नहीं तो, न मालूम जैनोंका वस्तुमें अनंत पर्याय मानना स्वामीजीको क्यों दुःखा ?

" अंतवाली वस्तुके संबंधि भी अंतवाले होते हैं " इस कथनसे न मालूम, स्वामीजी, जैनोंके किस सिद्धांतका खंडन करते हैं ? क्या जैन, पर्यायको नित्य मानते हैं ? जैनोंने तो पर्यायकी अपेक्षासे ही पदार्थको अनित्य (परिणामशील) बतलाया है।

फिर आगे अनंत शब्दका असंख्य अर्थ करते हुए भी स्वामीजी भूलते हैं ! क्योंकि जैन मतमें असंख्य और अनंत संख्यामें परस्पर बहुत अंतर है. जीवकी अपेक्षासे तो स्वामीजी उक्त जैन सिद्धांतको स्वीकार करते हैं, (वोह भी विना ही समझे !) ईश्वरकी अपेक्षासे नहीं ! परंतु उनको यह स्मरण रखना चाहिये था कि, एक ईश्वरवादको जैन दर्शनमें स्थान नहीं दिया गया ! असली वात तो यह है कि, स्वामीजी अनंत शब्दके सांकेतिक अर्थको ही न समझे उसका नित्य अर्थ मानकर ही वे व्यर्थ अंधेरा ढ़ोते रहे ! इस दशामें जैन सिद्धांतको मिथ्या वतलाना उनका कहां तक ठीक है ? यह मध्यस्थ वर्ग स्वयं विचार लेवे.

"कर्म और स्वामी दयानंद"

[क]

स्वा. द.—" जैनी लोग जगत, जीव, जीवके कर्म और बंध अनादि मानते हैं यहां भी जैनियोंके तीर्थंकर भूल गये हैं क्योंकि संयुक्त जगत्का कार्य कारण, प्रवाहसे कार्य और जीवके कर्म बंध भी अनादि नहीं हो सकता जब ऐसा मानते हो तो कर्म और वंधका छुटना क्यों मानते हो क्योंकि जो अनादि पदार्थ है वह कभी नहीं छूट सकता जो अनादिका भी नाश मानोगे तो तुम्हारे सर्व अनादि पदार्थोंके नाशका प्रसंग होगा और जब अनादिको नित्य मानोगे तो कर्म और वंध भी नित्य होगा " इत्यादि–[सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४२४]

[ख]

" और जब सब कर्मोंके छूटनेसे मुक्ति मानते हो तो सब कर्मोंका छूटना रूप मुक्तिका निमित्त हुआ तब नैमित्तिकी

मुक्ति होगी तो सदा नहीं रह सकेगी और कर्म कर्त्ताका नित्य संबंध होनेसे कर्म भी कभी न छूटेंगे " [स०प्र०पृ०४२४]

[ग]

" (प्र०) जैसे धान्यका छिलका उतारने वा अग्निके संयोग होनेसे वह बीज पुनः नहीं उगता इसी प्रकार मुक्तिमे गया हुआ जीव पुनः जन्म मरण रूप संसारमे फिर नहीं आता। (उ०) जीव और कर्मका संबंध छिलके और बीजके समान नहीं है किंतु इनका समवाय संबंध है इससे अनादि कालसे जीव और उसमें कर्म और कर्तृत्व शक्तिका संबंध है " इत्यादि [स० प्र० पृ० ४२४]

[क]

समालोचक—सज्जनो ! जिन अक्षरोंके नीचे हमने लकीर खैंची है उनका अर्थ स्वामी महोदयकी बुद्धिके सिवा और कुछ नहीं हो सकता ! स्वामीजी लिखते हैं कि—" यहां भी जैनियोंके तीर्थंकर भूल गये " परंतु—" जैनी लोग जगत जीव जीवके कर्म और बंध अनादि मानते हैं " स्वामीजीके इस लेखको जैन धर्मका कोई विज्ञपुरुष यदि देखे तो सचमुच ही वह स्वामीजीको महर्षि पदसे भी एक हाथ ऊंचे सिंहासनपर बैठाए विना न रहे ! स्वामीजीकी योगविभूतिको हम शतशः धन्यवाद देते हैं कि, जिसकी महिमासे वेदार्थ ज्ञानके सिवा जैन तत्त्वोंका ज्ञान भी उनको निराकारकी तर्फसे ही प्राप्त हुआ ! स्वामीजीके इस प्रकारके बहुधा असमंजस लेखोंको देख कर परलोकवासी भट्ट मॅक्षमूलरका कथन अधिकांश सच्चा मालूम देता है. किसी समय देवसमाजके नेता अग्नि होत्रीजीके साथ भट्ट मॅक्षमूलरका पत्रव्यवहार हुआ था वह " स्वामी दयानंद सरस्वतीका वेद भाष्य और अध्यापक मॅक्षमूलर " शीर्षक

द्वारा हिन्दीकी प्रसिद्ध सरस्वती नामा मासिकपत्रिकामें छपा है, पत्र यद्यपि इंगलिश भाषामें थे परंतु सम्पादक महोदयने सर्व साधारणके ज्ञानके लिए उनका हिन्दी भाषामें अनुवाद करके छापनेकी कृपा की है, उनमेंसे एक पत्रको हम यहांपर उद्धृत करते हैं.

७– नॉर हेम गार्डेन्स
ऑक्सफर्ड २४ फरवरी, १८९१.

श्रीमान् महाशयजी !

आपने जो कागज पत्र भेजे उनके लिये मैं आपको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। दयानंद सरस्वतीके विषयका लेख पढ़कर मेरे वे संदेह पुष्ट हो गये जो मेरे चित्तमें उनके संबंधमें थे। मै अभी तक समझता था कि धार्मिक विषयोंमे वे बड़े ही कट्टर या उससे भी कुछ अधिक थे। अत एव वे अपने ऋग्वेद भाष्यके उत्तर दाता नहीं। परंतु मुझे यह जान कर बड़ा ही दुःख हुआ कि वे अपने धार्मिक जोशकी आडमें कोई चाल भी चलते थे। तथापि मै यह माने विना नहीं रह सकता कि उनमें कुछ अच्छी बातें भी थीं और अन्य सुधारकों की तरह वे भी अपने अनुयायियों और खुशामदियों द्वारा गुमराह कर दिये गये थे। बड़े ही दुःखकी बात है कि उनके किये गये ऋग्वेद और यजुर्वेदके भाष्योंपर इतना अधिक धन व्यय किया गया !। ये दोनों भाष्य उनकी बहकी हुई बुद्धिकी निपुणताके नमूने और सौगात हैं। मुझे इस बातपर आश्चर्य नहीं जो केशवचंद्रसेन दयानंद सरस्वतीसे सहमत नहीं हो सके।

आपका मॅक्षमूलर

[सरस्वती भाग १३ संख्या १० पृष्ठ ५९४]

सज्जनो ! स्वामीजीका जैनदर्शनसे अपरिचित होना कोई आश्चर्य जनक नहीं है ! क्योंकि, उन्होंने जैन दर्शनका किसी विद्वान्से अध्ययन नहीं किया था, विना पढ़े जैन दर्शनका ज्ञान होना नितांत कठिन है; विनाही समझे किसी मतके प्रतिवादमें प्रवृत्त होना, मनुष्यको निस्संदेह सत्यता और निष्पक्षतासे गिरा देता है ! स्वामीजीने जैन सिद्धांतका पूर्व पक्षमें उल्लेख करते हुए लिखा है कि, " जैनी लोग जगत् जीव जीवके कर्म और बंध अनादि मानते हैं " परंतु जीवके कर्म और बंध इस प्रकारकी पद्धतिका उल्लेख जैन ग्रंथोंमें कहीं नहीं ! जैनोंका तो कथन है कि, " जीवके साथ कर्मोंका संयोग प्रवाहसे अनादि है, परंतु तत्त्व ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे उसका नाश हो जाता है. जैसे बीजमें अंकुर देनेकी शक्ति अनादि कालसे विद्यमान है, परंतु यदि उसको भूंज दिया जाय तो वह नष्ट हो जाती है; इसीप्रकार जीवके साथ कर्मोंका संबंध अनादि कालसे चला आता है परंतु तत्वज्ञानकी प्राप्ति होनेसे वह नष्ट हो जाता है "। इसके संबंधमें स्वामीजीका कथन है कि, अनादि पदार्थका नाश नहीं हो सकता ! इसी लिए वे जैनोसे प्रश्न करते हैं कि—" जो अनादिका भी नाश मानोंगे तो तुम्हारे सब अनादि पदार्थोंके नाशका प्रसंग होगा और जब अनादिको नित्य मानोंगे तो कर्म और बंध भी नित्य होगा " इति ।

स्वामीजीके उक्त लेखसे मालूम होता है कि, आप अनादिका अर्थ ही नित्य समझ रहे हैं ! परंतु विचार किया जाय तो यह समझ प्रमाण शून्य है ! संसारमें कितनेक ऐसे पदार्थ हैं कि, जिनकी आदि नहीं और अंत देखनेमें आता है । कल्पना करो कि, स्वामी दयानंदजीके पिता, उनके पिता, उनके पिता,

एवं उनके पिता, और उनके पिता आदिकी परंपराको अनादि स्वीकार किये विना किसी प्रकार भी छुटका नहीं परंतु इस अनादि परंपराको स्वामीजीसे समाप्ति हो गई ! क्यों कि, स्वामीजी ब्रह्मचारी थे । उन्होंने इस परंपराको आगे लेजाना स्वीकार नहीं किया ! इसी प्रकार धान्यके साथ छिलकेका संबंध भी अनादिकालसे चला आता है, जब धान्यपरसे छिलका उतर जाता है तब वह संबंध टूट जाता है।

(१) कितनेक पदार्थ ऐसे हैं कि, जिनके आदि और अंत दोनोंही नहीं देखे जाते, अतः वे अनादि अनंत माने गए हैं । (२) कितनेक ऐसे भी हैं कि, जिनकी आदि तो नहीं परंतु अंत देखा जाता है; उन्हीको अनादि सांत कहा गया है। (३) एवं कितनेक ऐसे भी हैं कि, जिनकी आदि तो है मगर अंत नहीं वेही सादि अनंत कहे गए हैं। (४) इसी प्रकार ऐसे पदार्थोंसे भी यह संसार भरपूर हैं कि, जिनकी आदि और अंत दोनों ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इसीलिए उनको सादिसांत स्वीकार किया गया है. इनका सोदाहरण वर्णन जैन ग्रंथोंमें विशेष रूपसे किया गया है । यह सिद्धांत इतना अबाध्य और उपयोगी है कि, प्रत्येक दर्शनकारने अपने दर्शनमें इसको स्थान दिया है । स्वामीजीके मतमें तो अनादिसांत कोई भी पदार्थ नहीं हैं ! क्यों कि, अनादि पदार्थको वोह नित्य ही मानते हैं ! परंतु प्रागभावके विषयमें उन्होंने अपना क्या सिद्धांत स्थिर किया है, यह उनके ग्रंथोंसे मालूम नहीं होता ! प्रागभावको माननेवाले तो उसको अनादि सांतही मानते हैं । वस्तुतः यथार्थ भी यही है. क्यों कि, घटादि वस्तुके उत्पन्न होनेसे प्रथम जो विद्यमान हो, और उत्पन्न होनेके बाद जिसका नाश हो जाय

उसका नाम प्रागभाव है; इसलिए इसको अनादि सांतही मानना होगा। अन्यथा हम पूछते हैं कि, घटादि पदार्थोंकी उत्पत्तिसे पहले उनके कारणोंमें निवास करते हुए प्रागभावके समयके हिसाबका क्या स्वामीजीकी डायरीमें कोई नोट है? हम नहीं कह सकते कि, स्वामीजी प्रागभावको मानकर भी अनादि पदार्थको नित्य ही क्यों मान रहे हैं?

[ख]

सज्जनो! आत्माके साथ कर्मोंके आत्यंतिक वियोगको जैन दर्शनमें मोक्ष बतलाया है. जैसे धान्यका बीज, छिलकेसे पृथक् हुआ२ फिर नहीं उत्पन्न होता, इसी प्रकार कर्मरूप छिलकेसे सर्वथा जुदा हुआ२ यह आत्मा भी जन्म मरण रूप संसार परंपराको कभी प्राप्त नहीं होता. जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज फिर पैदा नहीं होता, इसी तरह मोक्षात्मा का भी संसारमें फिर जन्म नहीं होता. यथा—हरिभद्रसूरिः—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥"

मोक्षके नित्य होनेमें जैनदर्शनके सिवा, अन्य दर्शनकारोंका भी एक ही मत है. इस विषयमें जैनोंपर स्वामीजीने जो आक्षेप किया है वह ऐसा विद्वत्तापूर्ण है कि, उसकी प्रशंसा कोई स्वामीजी जैसा ही भाग्यशाली जन्मे तो चाहे कर सके! हम तो करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं.

स्वामीजी कहते हैं कि, "कर्मोंके छूटनेको यदि मुक्ति कहोगे तो कर्मोंका छूटना मुक्तिका निमित्त होगा तब तो मुक्ति सदा न रहेगी." इसका तात्पर्य यह है कि, आत्माके साथ जो कर्मका संयोग है उसके आत्यंतिक विनाशको यदि मुक्ति

माना जाय तब तो संयोगके विनाश अर्थात् अभावको मुक्तिका कारण अवश्य स्वीकार करना होगा, जिस वस्तुका कोई कारण है वह अवश्य ही अनित्य होती है. मालूम होता है कि, इसी कारणसे स्वामीजीने मोक्षको अनित्य स्वीकार किया है! बेशक! स्वामीजीके मतसे तो इस प्रकार मानना ठीक है! क्योंकि, वे मोक्षको कर्मजन्य मानते हैं! मगर शोक! कि, उन्होंने इस नवीन उच्छृंखल मंतव्यमें एक भी स्थिर प्रमाणका उल्लेख नहीं किया!!

स्वामीजीने जैन मतपर आक्षेप करते हुए मुक्तिकी अनित्यतामें जिस प्रमाणका उपन्यास किया है, उसपर यदि स्वामीजी थोड़ासा भी विचार कर लेते तो "लेने गई पूत और खो आई खसम" वाली मिसाल उनको बहुत ही शीघ्र याद आए विना न रहती! और संभव था कि, वे स्वपाद कुठारके तीव्र आघातसे कदापि बच जाते! क्योंकि स्वामीजीने जीव, प्रकृति और ईश्वर इन तीन पदार्थोंको नित्य स्वीकार किया है. इनके नित्य होनेमें हेतु, मात्र उनके कारणका अभाव ही कह सकते हैं; परंतु जिस प्रकार कर्मोंके संयोगके विनाशको मोक्षका कारण माननेपर स्वामीजी उसको अनित्य बतलाते हैं, इसी प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृतिके नित्यत्वमें भी उनके कारणका अभाव रूप कारण होनेसे इन विचारोंकी नित्यता भी स्वामीजीकी रीतिसे मोक्षकी तरह थोडे ही दिनके लिए ठहर सकेगी! एवं प्रतिबंधकके अभावको निमित्त कारण मानकर वस्तुमें अनित्यत्व व्यवस्थापन करनेवाले स्वामीजी महाराजको न्यायशास्त्रका कितना अधिक परिचय होगा यह भी विचारणीय है!

सज्जनो! 'आत्यंतिको वियोगस्तु, कर्मणां मोक्ष उच्यते।' ऐसे अवाध्य सिद्धांतको भी मनमानी कल्पनासे खंडन करनेमें स्वामीजीने तनिक भी संकोच नहीं किया, इसलिए उनको जितना धन्यवाद दिया जावे उतना ही न्यून है!!!

[ग]

स्वामीजी कहते हैं कि, जीव और कर्मका संबंध छिलके और वीज के समान नहीं हैं। परंतु स्वामीजीने इसके विषयमें किसी प्रमाणका उल्लेख नहीं किया! फिर स्वामीजी, जीवके साथ कर्मका समवाय संबंध वतलाते हैं; इससे मालूम होता है कि, स्वामीजी क्रिया विशेषको ही कर्म समझ रहे हैं! क्योंकि क्रिया और क्रियावालेका समवाय संबंध होता है। यदि हम स्वामीजीके उक्त कथनको थोडे समयके लिए मान भी लेवें तब तो स्वामीजीका "इससे अनादि कालसे जीव और उसमे कर्म और कर्तृत्व शक्तिका संबंध है" यह कथन वहुत ही असंगत होगा! क्योंकि, द्रव्योत्पत्ति के उत्तर दूसरे क्षणमें गुण और कर्मकी उत्पत्ति होती है। (यह उसी दर्शनका सिद्धांत है, जिसके आधारपर स्वामी महोदय जीव और कर्म इन दोनोंका समवाय संबंध वतला रहे हैं।) यदि ऐसा न माना जाय तब तो इनका आपसमें कार्य कारण भाव नहीं बन सकता! इसलिए जिस समय जीवमें कर्म उत्पन्न हुआ होगा उसके एक क्षण अथवा अधिक कालतक जीवको निष्कर्म (कर्मरहित) अवश्य स्वीकार करना होगा! ऐसा माननेमें एक तो यह दोष है कि, जब आत्मा प्रथम कर्म रहित था तो उसमें पछिसे कर्म कहांसे आए? दूसरा दोष यह है कि, जब उक्त सिद्धांतसे कर्म अनित्य हुए तब उनका नाश भी अवश्य होगा! नाश हुई वस्तुकी उत्पत्ति वंध्यापुत्रके समान है! अर्थात जब कर्मोंका

एक दफा आत्यंतिक विनाश हो चुका तो फिर उनकी उत्पत्ति किस प्रकारसे हो सकती है ? यदि नहीं, तब तो जीवमें कर्म कर्तृत्वके संबंधको नित्य माननेवाले स्वामी महोदयको अपने कल्पित मंदिरमें प्रवेश करनेके लिए कोई नवीन ही मार्ग ढूंढ़ना चाहिये था ! हम नहीं समझते कि, कर्म नित्यत्वके सिद्धांतको स्वामीजीने किस पाठशालामें बैठ कर अध्ययन किया होगा ? कर्मको नित्य कहना सचमुच व्यभिचारीको ब्रह्मचारी कहनेके समान है ! इसपर बुद्धिके पीछे लाठी लिए फिरनेवाले बहुतसे समाजी महाशय कह उठेंगे कि, स्वामीजीने कर्मोंको नित्य नहीं कहा, किंतु जीवमें कर्म और कर्तृत्व शक्तिके संबंधको नित्य कहा है । इसलिए कर्म और कर्तृत्व शक्ति नित्य नहीं, किंतु इनका संबंध नित्य है ! इसपर हम पूछते हैं कि, यदि कर्तृत्व शक्ति और कर्म नित्य नहीं, तो फिर इनका विनाश क्यों नहीं ? यदि विनाश होता है तो फिर कर्तृत्व शक्ति, कहांसे आवेगी ? जो कि, मुक्तात्माको फिर दुःखमय संसारका मूं दिखलावे ! ! अस्तु ! निष्प्रामाणिकेषु प्रमाणपरतंत्राणामस्माकं मौनमेव श्रेयः ॥

यहांपर हम पाठकोंको इतना अवश्य बतला देते हैं कि, जैन शास्त्रोंमें जिस प्रकार कर्मका लक्षण, एवं स्वरूप, बतलाया है; स्वामीजीका कथन उससे कोसों दूर है ! जैनमतमें कर्मको द्रव्य माना है, अर्थात् एक प्रकारके जड़ परमाणुओंमे ही जैनमतमें कर्म व्यवहार किया जाता है. जैनोंका कथन है कि, शुभ–एवं–अशुभ अध्यवसायसे जीवके साथ कर्म परमाणु संबंधित होकर उसकी ज्ञान दर्शनादि स्वाभाविक अनंत शक्तियोंको तिरोहित कर देते हैं. यह कथन यद्यपि ऊपरसे कुछ शुष्क और अलंकारिकसा प्रतीत होता है, परंतु विचारसे

देखा जाय तो बड़ा ही सरस और अक्षरशः सत्य है. इसका विचार हम कहीं अन्यत्र करेंगे. इसके आगे स्वामीजीने कुछ ईश्वर और कर्म, तथा उनके फल देनेके संबंधमें लिखा है; उसके विषयमें हम कहीं अन्यत्र विचार करनेके लिए प्रतिज्ञा बद्ध होते हुए यहांपर पाठकोंसे इतना ही निवेदन करते हैं कि, उक्त विषयके संबंधमें स्वामीजी महाराजने जो कुछ भी लिखा है, वह केवल अरण्य रोदनके समान है ! सच पूछो तो स्वामीजी दो पहरमें ही भूले फिरते मालूम देते हैं ! जितने भी पूर्व और उत्तर पक्षोंद्वारा उन्होंने जैन मतका प्रतिपादन और प्रतिवाद किया है, वह सबका सब, सचमुच ही तेलीके शिरपर कोल्हूकी मिसालसें उपमित करने योग्य है !!

"षष्ठीशतक और स्वामी दयानंद"

षष्ठी शतक जैनमतका एक अर्वाचीन ग्रंथ है, जैनोंके किसी अंग या उपांगमें इसकी गणना नहीं है, इसलिये यह उतने ही अंशमें प्रमाण करने योग्य है, जितना कि 'जैनमतके सर्वमान्य सिद्धांत ग्रंथोंके अनुकूल हो. यह ग्रंथ प्राकृत भाषामें है, इसकी १६० गाथा हैं, इसके निर्माता नेमिचंद्र नामके कोई जैन गृहस्थ हैं। यह प्रायः संग्रह ग्रंथ है। इसकी कितनीक गाथाएं उद्धृत करके स्वामी दयानंदजीने उनकी समीक्षा की है। उद्धृत गाथाओंका पाठ बहुधा अशुद्ध है! उनका अर्थ करनेमें तो स्वामीजीने प्राकृत भाषाके ज्ञानमें अपनी कीर्तिको खूब ही बढ़ाया है!! उनपर जो समीक्षा की गई है वह, बड़ी ही निर्बल और विना सिर पैरकी है!!! गाथार्थके साथ उसका अणुमात्र भी संबंध नहीं है। उदाहरणके लिए उनमेसे कुछ गाथाएं यहां पर उद्धृत की जाती हैं।

[क]

मूल—जइन कुणासि तवचरणं नपढसि नगुणेसि देसि नो दाणम्।
ता इत्तियंन सक् किसिजं देवा इक्के अरिहंतो ॥षष्ठी. सू. २॥

हे जीव जो तूं तपचारित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ़ सकता, न प्रकरणादिका विचार कर सकता और सुपात्रादिको दान नहीं दे सकता तो भी तूं देवता एक अरिहंतही हमारे आराधनाके योग्य सुगुरु सुधर्म जैनमतमें श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धारका कारण है ॥ २ ॥ (समीक्षक) यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु है तथापि पक्षपातमें फसनेसे दया अदया और क्षमा अक्षमा होजाती है इसका प्रयोजन यह है कि किसी जीवको दुःख न देना यह बात संभव नहीं हो सकती क्योंकि दुष्टोंको दंड देना भी दयामें गणनीय है, जो एक दुष्टको दंड न दिया जाय तो सहस्रों मनुष्योंको दुःख प्राप्त हो इसलिये वह दया अदया और क्षमा अक्षमा होजाय।

सब प्राणियोंके दुःखका नाश और सुखकी प्राप्तिका उपाय करना दया कहाती है। केवल जल छानके पीना क्षुद्र जंतुओंको बचानाही दया नहीं कहाती किंतु इस प्रकारकी दया जैनियोंके कथन मात्र ही है क्योंकि वैसा वर्तते नहीं।

[ख]

क्या मनुष्यादिपर चाहे किसी मतमे क्यों न हो दया करके उसका अन्नपानादिसे सत्कार करना और दूसरे मतके विद्वानोंको मान्य और सेवा करना दया नहीं है? जो इनकी सच्ची दया होती तो " विवेकसार " के पृष्ठ २२१ में देखो क्या लिखा है " एक परमतीकी स्तुति " अर्थात् उन का गुण-कीर्तन कभी न करना। दूसरा " उनको नमस्कार " अर्थात्

वंदना भी न करनी । तीसरा "आलपन" अर्थात् अन्यमत वालोंके साथ थोड़ा बोलना । चौथा "संलपन" अर्थात् उनसे वार २ न बोलना । पांचवां "उनको अन्न वस्त्रादि दान" अर्थात् उनको खाने पीनेकी वस्तु भी न देनी । छठा "गंधपुष्पादिदान" अन्यमतकी प्रतिमा पूजनके लिये गंध पुष्पादि भी न देना । ये छः यतना अर्थात् इन छः प्रकारके कर्मोंको जैन लोग कभी न करें" (समीक्षक) अब बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये कि इन जैन लोगोंकी अन्य मतवाले मनुष्योंपर कितनी अदया, कुदृष्टि और द्वेष है । जब अन्य मतस्थ मनुष्योंपर इतनी अदया है तो फिर जैनियोंको दयाहीन कहना संभव है क्यों कि अपने घरवालोंकी ही सेवा करना विशेष धर्म नहीं कहाता उनके मतके मनुष्य उनके घरके समान हैं इसलिये उनकी सेवा करते अन्य मतस्थोंकी नहीं फिर उनको दयावान् कौन बुद्धिमान् कह सकता है? ।

[ग]

स्वा० द०–विवेक.१०८में लिखा है कि "मथुराके राजाके नमुची नामक दीवानको जैनमतियोंने अपना विरोधी समझ कर मारडाला और आलोयणा करके शुद्ध हो गया । क्या यह भी दया और क्षमाका नाशक कर्म नहीं है ? जब अन्य मतवालों पर प्राण लेने पर्यंत वैर बुद्धि रखते हैं तब इनको दयाके स्थानपर हिंसक कहना ही सार्थक है । [स० प्र० पृ० ४२७–२८]

[क]

समालोचक–जिन अक्षरोंके नीचे हमने लंबी लकीर खैंची है उनका ऊपर लिखी प्राकृत गाथाके साथ कुछ भी संबंध नहीं है, गाथामें ऐसा कोई भी पद नहीं, जिसका स्वामीजीका लिखा हुआ "सुगुरु सुधर्म" इत्यादि अर्थ हो

सकें ! उक्त गाथाका सरल और स्पष्ट इतना ही अर्थ है कि-*" हे जीव ! यदि तूं तप, शास्त्राभ्यास और सुपात्र दान आदिमेंसे कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं तो, क्या तूं इतना भी नहीं कर सकता ? अर्थात् समझ सकता कि, एक अरिहंत देव अर्थात् सर्व दोष रहित ईश्वर ही उपासना करने योग्य है. " हम नहीं समझते कि, उक्त उपदेशमें स्वामीजीने क्या बुराई समझ कर इतनी उछल कूद की ? इसके अनंतर समीक्षकसे लेकर जो लिखा गया है वह विना सिर पैरका है ! क्योंकि उक्त गाथाके अर्थके साथ उसका कुछ भी संबंध नहीं ! ! इसपर विचार करना भी समयको व्यर्थ खोना है !

यद्यपिसे लेकर-दया कहाती है-तकके लेखमें स्वामीजी जैनोंको क्या समझा रहे हैं ? यह कुछ समझमें नहीं आता ! क्या दुष्ट पुरुषको दंड देना जैन अनुचित समझते हैं ? जैनोंका तो कथन है कि, निरपराध प्राणीको कदापि सताना न चाहिये, और प्राणिमात्र पर दया रखना मनुष्यका सबसे उत्तम कर्त्तव्य है. हां ! अपनेसे छोटे तथा निरपराध प्राणियोंको अहंकारमें आकर पांवके तले कुचल डालने, तथा स्वामीजीकी तरह " हे ईश्वर ! आर्योंके शत्रुओंका नाश कर ! उनको खुशक लकड़ीकी तरह जला डाल ! " इस प्रकारके निंदनीय उपदेशोंको जैनोंने अपने शास्त्रोंमें स्थान नहीं दिया !

---

* षष्ठी शतकका शुद्धपाठ तथा उसकी व्याख्या-" जई न कुण सि तव चरणं, न पढसि न गुणेसि देसि नो दाणं। ता इत्तिअं न सक्कसि; जं देवो इक्कु अरिहंतो ॥ २ ॥ " व्याख्या-यदि न करोषि तपश्चरणं, न पठसि, न गुणसि, न ददासि दानं, तत् एतावन्मात्रं कर्त्तुं न शक्नोषि ? यद्देव एकोऽर्हन्नेव पूज्यो ध्येयश्चेति गाथार्थः ॥ २ ॥

स्वामीजी कहते हैं कि—" जल छानके पीना क्षुद्रजंतुओंको बचाना ही दया नहीं कहाती " हम पूछते हैं कि, जैन मतके किस ग्रंथमें लिखा है कि, जल छानकर पीना और क्षुद्र जंतुओंको बचाना मात्र ही दया है। स्वामीजीने यदि जैन ग्रंथोंका अवलोकन किया होता तो उनको मालूम होता कि—पंचेंद्रियसे लेकर एकेंद्रिय जीवकी रक्षा और उनपर दया भाव रखनेके सदुपदेशका केंद्र एक जैनधर्म है !

इसके आगे स्वामीजी कहते हैं कि—" इस प्रकारकी दया जैनियोंका कथन मात्र ही है क्योंकि वैसा वर्त्तते नहीं " हम कहते हैं कि, कदापि जैन लोग अपने शास्त्रोंके सात्विक दयामय उपदेशका पालन न करें तो, उसमें शास्त्रका क्या अपराध है ? (बहुतसे समाजी महाशय स्वामीजीके भक्त होने पर भी उनके उपदेशका पालन नहीं करते तो, क्या इसमें स्वामीजीको दोषी ठहराना चाहिये ? उदाहरणके लिए देखो, स्वामीजीने एक स्त्रीको ११ पति बनाने तककी आज्ञा दी है ! परंतु शोक कि, उनके दो तीन लाख भक्तोंमेंसे आजतक एक भी ऐसा दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जिसने उक्त आज्ञाको पाल कर दिखाया हो ! और पालकर दिखावे ऐसी आशा भी नहीं!! फिर स्वामीजीके चलाए नियोग जैसे पवित्र मार्गपर भी उनके बहुतसे भक्त पांव रखते हिचकते हैं। स्वामीजीने तो, संन्यासी होकर भी विधवाओंपर बड़ी दया की थी ! परंतु इनके भक्तोंके हृदय तो इतने कठोर हो रहे है कि, बिचारी घरमें होनेवाली अनाथ विधवाओंकी हीन दशा और उष्ण श्वास एवं करुणामय दीन स्वरसे भी उनपर कुछ असर नहीं होता!!!)

स्वामीजी जैन शास्त्रोंके समीक्षक बने हैं या जैनोंके ? यदि किसी शिथिलाचारी जैन व्यक्तिपर उनका आक्षेप है तो,

हमारा उसमें कुछ विवाद नहीं; हमारा तो विचार केवल जैन शास्त्रोंके संबंधमें है. धर्मकी मीमांसा, किसी व्यक्तिगत आचरणपर निर्भर नहीं हो सकती ! अन्यथा किसी महाशयका वेश्या प्रेमी होना भी स्वामीजीके वैदिक धर्मको अवश्य ही लांछित कर डालेगा ! !

[ख]

" क्या मनुष्यादि पर चाहे किसी मतमें क्यों न हो दया करके उसको अन्न पानादिसे सत्कार करना और दूसरे मतके विद्वानोंका मान्य और सेवा करना दया नहीं ? स्वामी जीका यह लेख बडा ही परामर्श करने योग्य है ! दयाका रहस्य बतलाते हुए स्वामीजी महाराज उक्त लेखसे मध्यस्थ संसारको दो वातोंका उपदेश कर रहे हैं । (१) मनुष्य मात्रका (चाहे वह किसी धर्ममें विश्वास रखनेवाला हो) अन्नपानादिसे सत्कार करना. अर्थात् नंगेको वस्त्र, भूखेको अन्न, प्यासेको पानी देना. (२) अन्यमतके विद्वानोका मान और सेवाका करना.

स्वामीजीके यह दोनो ही उपदेश निःसंदेह मानने योग्य हैं । इस प्रकारके सदुपदेष्टाओंका कौन ऐसा कुत्सित पुरुष है जो हृदयसे धन्यवाद न करे ? जिस वक्त इस प्रकारके सदुपदेशोंकी निर्मल धारा भारतमें वहती थी उस वक्त शांतिका सम्राट् भारत ही था ! परंतु हम अपने पाठकोंको प्रथम इतना बतलाना चाहते हैं कि, अन्यमतके विद्वानोंका मान और सेवा करनी इस दूसरे उपदेशपर स्वामीजीने स्वयं कितना अमल किया है । क्योंकि उनके लेखानुसार कदापि जैन मतमें तो अन्य मतके विद्वानोंका मान और सेवा करनी न भी हो, परंतु स्वामीजी

तो स्वयं इसका उपदेश कर रहे हैं इसलिए उन्होंने तो अन्य-मतके विद्वानोंका अवश्य ही मान किया होगा ! !

स्वामीजीने अन्यमतके आचार्यों और विद्वानों एवं उनके उपास्य देवोंका सन्मान जिन प्रशंसनीय शब्दोंमें किया है उनमेसे थोडेसे शब्द नमूनेके तौरपर हम यहांपर लिखते हैं।

[१] "सनातनधर्मी विद्वानोंके माननीय भागवतादि पुराणोंके निर्माताका सन्मान!"

वाहरे वाह ! भागवतके बनानेवाले लाळ बुजक्कड ! क्या कहना तुझको ऐसी २ मिथ्या बातें लिखनेमें तनिक भी लज्जा और शरम न आई निपट अंधा ही बन गया।

भला इन महा झूठ बातोंको वे अंधे पोप और बाहिर भीतरकी फूटी आंखोंवाले उनके चेले भी सुनते और मानते हैं बडे आश्चर्यकी बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई!!! इन भागवतादि पुराणोंके बनाने हारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ हीमें नष्ट हो गये? वा जन्मते समय मर क्यों न गये? [स० प्र० पृष्ठ ३३०]

[२] "मूर्तिपूजक देवपूजा करनेवाले विद्वानोंका सन्मान!"

और आप पराधीन भठयारे के टट्टू और कुम्हार के गधेके समान शत्रुओंके वशमे होकर अनेक विधि दुःख पाते हैं........ जब कोई किसीको कहे कि हम तेरे बैठनेके आसन वा नामपर पत्थर धरें तो जैसे वह उसपर क्रोधित होकर मारता वा गाली प्रदान करता है वैसे ही जो परमेश्वरके उपासनाके स्थान हृदय और नामपर पाषाणादि मूर्तियां धरते हैं उन दुष्ट बुद्धिवालोंका सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे। [सत्या० पृ० ३१२]

जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं वे अतीव वेद विरोधी हैं. [सत्या० पृ० ३१४]

[३] "मूर्त्तिपूजाका सन्मान !"

नहीं २ मूर्त्ति पूजा सीढ़ी नहीं किंतु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है पुनः उस खाईसे निकल नहीं सकता किंतु उसीमें मर जाता है [सत्या० पृ० ३११]

[४] " मंदिरमें देव पूजा करनेवाले ब्राह्मणोंका सन्मान " !

पाषाणादिकी मूर्त्ति बना उसके आगे नैवेद्य धर घंटा-नाद टंटं पूंपूं और शंख बजा कोलाहल कर अंगूठा दिखला अर्थात् " त्वमंगुष्ठं गृहाण भोजनं पदार्थं वा अहं ग्रहीष्यामि " जैसे कोई किसीको छले वा चिड़ावे कि तूं घंटा ले और अंगूठा दिखलावे उसके आगेसे सब पदार्थ ले आप भोगे वैसे ही लीला इन पूजारियों पूजा नाम सत्कर्मके शत्रुओंकी है। मूढोंको चटक मटक चलक झलक मूर्त्तियोंको बना ठना आप ठगोंके तुल्य बनठनके विचारे निर्बुद्धि अनाथोंका माल मारके मौज करते हैं। जो कोई धर्मिराजा होता तो इन पाषाण प्रियों (पत्थरके प्यारयों) को पत्थर तोड़ने बनाने और घर चनने आदि कामोंमें लगाके खाने पीनेको देता [सत्या० पृ० ३१५]

[५] " ब्राह्मणोंका सन्मान !"

(ब्राह्मणोंकी तर्फसे स्वयं प्रश्नकर्त्ता बनकर उनके विषयमें इस प्रकार लिखते हैं.)

प्रश्न—तो हम कौन हैं ?

उत्तर—तुम पोप हो।

प्रश्न—पोप किसको कहते हैं ?

उत्तर—उसकी सूचना रूमन भाषामें तो वड़ा और पिताका नाम पोप हैं परंतु अब छलकपटसे दूसरेको ठग कर अपना प्रयोजन साधनेवालेको पोप कहते हैं. इत्यादि (सत्या० पृ० २७८)

[६] "शैव धर्मका सन्मान!"

पश्चात् इन वाममार्गी और शैवोंने सम्मति करके भग लिंगका स्थापन किया जिसको जलाधारी (जलहरी) और लिंग कहते हैं और उसकी पूजा करने लगे उन निर्लज्जोंको तनिक भी लज्जा न आई! कि यह पामरपनका काम हम क्यों करते हैं? (सत्या० पृ २९७)

[७] "तुलसी रुद्राक्ष और चंदन आदिकी माला पहरने वालोंका सन्मान!"

जितना रुद्राक्ष, भस्म, तुलसी, कमलाक्ष, घास, चंदन आदिको कंठमें धारण करना है वह सब जंगली पशुवत् मनुष्यका काम है! ऐसे वाममार्गी और शैव बहुत मिथ्याचारी विरोधी और कर्त्तव्य कर्मके त्यागी होते हैं। [सत्या० प्र० ३००]

[८] "वैष्णव धर्मका सन्मान!"

प्रश्न—वाममार्गी और शैव तो अच्छे नहीं परंतु वैष्णव तो अच्छे हैं?

उत्तर—यह भी वेद विरोधी होनेसे उनसे भी अधिक बुरे हैं। [सत्या० प्र० पृ० ३०१] चक्रांकित लोग अपनेको वड़े वैष्णव मानते हैं परंतु अपनी परंपरा और कुकर्मकी ओर ध्यान नहीं देते कि प्रथम इनका मूल पुरुष "शठकोप" हुआ कि जो चक्रांकितों ही के ग्रंथों

और भक्तमाल ग्रंथ जो नाभा डूमने वनाया है उनमे लिखा है—"विक्रीय सूर्प्पं विचचार योगी" इत्यादि वचन चक्रांकितोंके ग्रंथोंमें लिखे हैं शठकोप योगी सूपको वना वेचकर विचरता था अर्थात् कंजर जातिमें उत्पन्न हुआ था उसने ब्राह्मणोंसे पढ़ना वा सुनना चाहा होगा तब ब्राह्मणोंने तिरस्कार किया होगा उसने ब्राह्मणोंके विरुद्ध संप्रदाय तिलक चक्रांकित आदि शास्त्रविरुद्ध मनमानी बातें चलाई होंगी उसका चेला मुनिवाहन जो चंडाल वर्णमें उत्पन्न हुआ था उसका चेला "यावनाचार्य" जो कि यवन कुलोत्पन्न था जिसका नाम वदलके कोई२ यामुनाचार्य भी कहते हैं उनके पश्चात् रामानुज ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर चक्रांकित हुआ। इत्यादि [सत्या० प्र० पृ० ३०४]

[९] "शैव मतवालोंकी प्रशंसा !"

प्रश्न—शैव मतवाले तो अच्छे होते हैं ?

उत्तर—अच्छे कहांसे होते हैं ? "जैसा प्रेतनाथ वसा भूतनाथ" जैसे वाममार्गी मंत्रोपदेशादिसे उनका धन हरते वैसे शैव भी "ॐ नमः शिवाय" इत्यादि पंचाक्षरादि मंत्रोंका उपदेश करते रुद्राक्ष भस्म धारण करते मट्टीके और पाषाणादिके लिंग वनाकर पूजते हैं और हर२ वं वं और वकरेके शब्द समान वड़२ मुखसे शब्द करते हैं। इत्यादि [सत्या० प्र० पृ० ३९०]

[१०] "वैष्णवोंकी प्रशंसा !"

प्रश्न—वैष्णव तो अच्छे हैं ?

उत्तर—क्या धूड़ अच्छे हैं ? जैसे वे वैसे ये हैं देख लो वैष्णवोंकी लीला-इत्यादि [सत्या० प्र० पृ० ३५०]

[११] " कबीरके मतका सन्मान ! "

प्रश्न—कबीर पंथी तो अच्छे हैं ?

उत्तर—नहीं ! इत्यादि (अधिक देखो) [सत्या० पृ० ४९४]

[१२] "सिखमतके प्रवर्त्तक गुरु नानक साहबका सन्मान!"

प्रश्न—पंजाब देशमें नानकजीने एक मार्ग चलाया है क्यों कि वे भी मूर्त्तिका खंडन करते थे मुसलमान होनेसे बचाये वे साधु भी नहीं हुए किंतु गृहस्थ बने रहे देखो उन्होंने यह मंत्र उपदेश किया है इसीसे विदित होता है कि उनका आशय अच्छा था—ओं सत्य नाम कर्ता इत्यादि ।

उत्तर—नानकजीका आशय तो अच्छा था पर विद्या कुछ भी नहीं थी, हां भाषा उस देशकी जो कि ग्रंथोंकी है उसे जानते थे, वेदादिशास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे, जो जानते होते तो " निर्भय " शब्दको " निर्भौ " क्यों लिखते ? और इसका दृष्टांत उनका बनाया संस्कृतीस्तोत्र है चाहते थे कि मै संस्कृतमें भी पग "अडाऊं" परंतु विना पढ़े संस्कृत कैसे आसकता है ? इत्यादि [सत्या० पृ० ३९६]

[१३] " महात्मा दादूजीका सन्मान ! "

प्रश्न—दादूपंथीका मार्ग तो अच्छा है ?

उत्तर—अच्छा तो वेदमार्ग है जो पकड़ा जाय तो पकड़ो नहीं तो सदा गोते खाते रहोगे इनके मतमें दादूजीका जन्म गुजरातमें हुआ था पुनः जयपुरके पास

आमेरमे रहते थे तेलीका काम करते थे ईश्वरकी सृष्टिकी विचित्र लीला है कि दादूजी भी पुजाने लग गये ! इत्यादि [सत्या० पृ० ३५८]

[१४] " रामस्नेही मतका सन्मान ! "

थोड़े दिन हुए कि एक रामस्नेही मत शाहापुरासे चला है उन्होंने सब वेदोक्त धर्म छोड़के राम २ पुकारना अच्छा माना है उसीमें ज्ञान ध्यान मुक्ति मानते हैं परंतु जब भूख लगती है तब " रामनाम " मे से रोटी शाक नहीं निकलता क्यों कि खान आदि तो गृहस्थोंके घरहीमें मिलते हैं वे भी मूर्त्ति पूजाको धिक्कारते है परंतु आप स्वयं मूर्त्ति बन रहे हैं। स्त्रियोंके संगमें बहुत रहते हैं क्योंकि रामजीको "रामकी" के विना आनंद नहीं मिल सकता। [सत्या.पृ.३५८-५९-६० में देखो]

[१५] " गोकुलिये गुसाइंयोंका सन्मान ! "

प्रश्न—गोकुलिये गुसाइयोंका मत तो बहुत अच्छा है देखो कैसा ऐश्वर्य भोगते हैं क्या यह ऐश्वर्य लीलाके विना ऐसा हो सकता है ?

उत्तर—यह ऐश्वर्य गृहस्थ लोगोंका है गुसाइयोंका कुछ नहीं।

प्रश्न—वाह ! २ गुसाइयोंके प्रतापसे है ।

उत्तर—दूसरे भी इसी प्रकारका छल प्रपंच रचें तो ऐश्वर्य मिलनेमे क्या संदेह है ? और जो इनसे अधिक धूर्त्तता करते तो अधिक भी ऐश्वर्य हो सकता।

[स० पृ. ३६२]

(ख) ये गोसांई लोग अपने संप्रदायको " पुष्टिमार्ग " कहते हैं अर्थात् खाने पीने पुष्ट होने और सब स्त्रियोंके संग यथेष्ट भोग विलास करनेको पुष्टि मार्ग कहते हैं ! परंतु इनसे

पूछना चाहिये कि जब बड़े दुःखदाई भंगदरादि रोगग्रस्त होकर ऐसे झीक २ कर मरते हैं कि जिसको येही जानते होंगे सच पूछो तो पुष्टि मार्ग नहीं किंतु कुष्ठिमार्ग है जैसे कुष्टिके शरीरकी सब धातु पिघल २ के निकल जाती हैं और विलाप करता हुआ शरीर छोडता है ऐसी ही लीला इनकी भी देखनेमें आती है इसलिये नरकमार्ग भी इसीको कहना संघटित हो सकता है. [स० पृ० ३६६]

(ग) गो लोक स्वर्गकी अपेक्षा नरकवत् हो गया होगा अथवा जैसे बहुत स्त्रीगामी पुरुष भगंदरादि रोगोंसे पीडित रहते हैं वैसा ही गोलोकमें भी होगा ! छि ! छि ! ! छि ! ! ! (इत्यादि सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३६७ से ३६९ तकका लेख अवश्य देखने योग्य है)

[१६] " स्वामी नारायण मतका सन्मान ! "

(प्रश्न) स्वामीनारायणका मत कैसा है ? (उत्तर) " यादृशी शीतलादेवी तादृशः खरवाहनः" जैसी गुसांइजीकी धन हरण आदिमें विचित्र लीला है वैसी ही स्वामीनाराणयकी भी है ! [स० पृ० ३६९]

(इस मतके संबंधमें पृष्ठ ३७० में स्वामीजीने एक नाककटोंकी कथा लिखी है ! विस्तारके भयसे उसे यहां उद्धृत नहीं किया गया पाठक महोदय वहांसे ही देख लेवें.)

[१७] "माध्व और लिंगांकित संप्रदायका सन्मान !"

(प्रश्न) माध्व मत तो अच्छा है !

(उत्तर) जैसे अन्य मतावलंबी हैं वैसे ही माध्व भी हैं क्योंकि ये भी चक्रांकित होते हैं [इत्यादि—स० पृ० ३७३]

(प्रश्न) लिंगांकितका मत कैसा है ?

(उत्तर) जैसा चक्रांकितका [इत्यादि—स० पृ० ३७४]

[१८] " ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाजका सन्मान ! "

(प्रश्न) ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज तो अच्छा है या नहीं ! (उत्तर) कुछ २ बातें अच्छी हैं और बहुतसी बुरी हैं [इत्यादि–स० पृ० ३७४ से ३८०]

[१९] " जैन धर्मका सन्मान ! "

(क) सबसे वैर विरोध निंदा ईर्षा आदि दुष्ट कर्मरूप सागरमें डुबानेवाला जैन मार्ग है जैसे जैनी लोग सबके * निंदक है वैसा कोई भी दूसरा मतवाला महा निंदक और अधर्मी न होगा. [स० पृ० ४३१]

(ख) सब पाखंडोंका मूल भी जैन मत है. [सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४४०]

(२०) " ढूंढ़क मतवालोंका सन्मान ! "

(क) श्वेतांबरोंमेंसे ढूंढिया और ढूंढियोंमेंसे तेरापंथी आदि ढोंगी निकले हैं.

(ख) जैसे अंत्यजोंकी दुर्गंधके सहवाससे पृथक् रहनेवाले बहुत अच्छे हैं जैसे अंत्यजोंकी दुर्गंधके सहवाससे निर्मलबुद्धि नहीं होती वैसे तुम और तुम्हारे संगियोंकी भी बुद्धि नहीं बढ़ती जैसे रोगकी अधिकता और बुद्धिके स्वल्प होनेसे धर्मानुष्ठानकी बाधा होती है वैसे ही दुर्गंधयुक्त तुम्हारा और तुम्हारे संगियोंका भी वर्त्तमान होता होगा (स०पृ० ४४९)

(२१) " ईसाई मतका सन्मान ! "

(क) इस लिये असंभव बात कहना ईसाकी अज्ञानताका प्रकाश करता है भला जो कुछ भी ईसामें विद्या होती

---

* " स्वामीजी तो सबको तारनेवाले हैं ! इसीलिए उन्होने किसी मतकी भी प्रशंसा करनेमें त्रुटि नहीं रखी ! ! " (लेखक)

तो ऐसी अटाट्ट जंगलीपनकी बातें क्यों कह देता ? (सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४९६)

(ख) सच तो यही है कि यह पुस्तक ईसाईयोंका और ईसा ईश्वरका बेटा जिन्होंने बनाये वे शैतान हों तो हों. इत्यादि–स० पृ० ५०५)

(ग) योहन आदि सब जंगली मनुष्य थे. (इत्यादि–स० प्र० पृ० ५०९)

(२२) "इसलामी मतका सन्मान !"

(क) यह कुरान कुरानका खुदा और मुसलमान लोग केवल पक्षपात अविद्याके भरे हुए हैं इसीलिये मुसलमान लोग अंधेरेमें हैं (स० प्र० ५३८)

(ख) अब देखिये कितने महापक्षपातकी बात है कि जो मुसलमान न हो उसको जहां पाओ मारडालो और मुसलमानोंको न मारना भूलसे मुसलमानोंके मारनेमें प्रायश्चित और अन्यको मारनेमें बहिश्त मिलेगा ऐसे उपदेशको कुएंमें डालना चाहिये ऐसे ऐसे पुस्तक ऐसे२ पैगंबर ऐसे२ खुदा और ऐसे२ मतसे सिवाय हानिसे लाभ कुछ नहीं ऐसोंका न होना अच्छा है.* (स० पृ० ५४१)

---

* कुरानके अंदर यदि उक्त शिक्षाका उपदेश हो तो उसपर स्वामीजीका इस प्रकारसे लिखना ठीक मालूम पडता है, क्योंकि मुसलमानसे अन्यको (चाहे उसने कुछ भी अपराध न करा हो) मार डालना, और मुसलमान (चाहे वह अपराधी भी हो) को भूल कर भी नहीं मारना–यह उपदेश न्यायकी सीमासे निस्संदेह बाहर है ! परंतु हमे विवश होकर कहना पडता है कि, स्वामी महोदयके यजुर्वेदादि भाष्योंमें भी इस प्रकारकी सुशिक्षाकी कमी नहीं! उदाहरणार्थ यजुर्वेद भाष्य अध्याय १२ मंत्र १३ " हे राज पुरुष !

(२३) " सब मतोंके विद्वानोंका सन्मान ! "

स्वामीजीने सत्यार्थ प्रकाशके पृष्ठ ३८० से ३८२ तकमें एक कल्पित कथा लिखी है उसमें जिज्ञासुके प्रश्नोत्तर रूपसे सब मतों और उनके विद्वानोंकी प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं कि, " फिर आगे चला तो सब मतवालोंने अपनेर को सच्चा कहा कोई हमारा कबीर सच्चा कोई नानक कोई दादू कोई वल्लभ कोई सहजानंद कोई माधव आदिको अवतार बतलाते सुना सहस्रोंसे पूछ उनके परस्पर एक दूसरेका विरोध देख विशेष निश्चय किया कि इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं क्योंकि एक एकके झूठमें ९९९ ग्वाह हो गये जैसे झूठे दुकानदार वा वेश्या और भडुआ आदि अपनी२ वस्तुकी बडाई दूसरेकी बुराई करते हैं वैसे ही ये हैं !" इत्यादि ।

समालोचक–आशा है कि अन्यमतों तथा मतांतरीय विद्वानोंका स्वामीजीने कितना सत्कार किया है इससे अब हमारे पाठक अपरिचित न रहे होंगे ! मतांतरीय विद्वानोंका

आप धर्मके विरोधी दुश्मनोंको आगमें जला देवें ! ! ऐ तेज धारी पुरुष ! जो हमारे दुश्मनोंको उत्साह (हौसला) देता है उसको आप उलटा लटका कर सूखी लकडीकी तरह जला देवें ! ! ! एवं यजु. अ. १५ मंत्र १७ " हम लोग जिससे शत्रुता (दुश्मनी) करें और जो हमसे शत्रुता (दुश्मनी) करें उसको हम व्याघ्र आदिके मूंहमें डालें और राजा भी उसको व्याघ्र आदिके मूंहमें डाल दे " तथा–यजु. अ. ६ मंत्र. २२ " हे परमेश्वर ! आपकी कृपासे जल और औषधियें (अनाज वगैरह) हमारे लिये सुखकारक (सुखके देनेवाली) हों ! और जो हम लोगोंसे द्वेष (दुश्मनी करता है और जिससे हम लोग द्वेष करते हैं उसके लिये ये (अन्न और जलादि वस्तु) दुःख देनेवाले हों ! " इत्यादि अधिक देखनेवाले वहां पर ही देख लेवें !

स्वामीजीने जिन मधुर शब्दोंसे सत्कार किया है उनकी प्रशंसाके लिए हम लाचार हैं कि, हमारे पास कोई भी शब्द नहीं! शोक केवल इतना ही है कि, हमारे दुर्भाग्यसे स्वामीजी शीघ्र ही संसारसे चल बसे! अन्यथा भारतीय धार्मिक समाजमें उनकी कृपासे उत्पन्न हुई शांतिकी ज्वाला निःसंदेह प्रचंड दावानलके स्वरूपको धारण किये विना न रहती! परंतु क्या किया जावे " दैवो हि दुरतिक्रमः "!

कदापि कोई स्वामीजीके उक्त लेखका (जो कि उन्होंने अन्यमतों और विद्वानोंके बारेमें सत्यार्थ प्रकाशमें प्रकाशित किया है.) यह आशय बतलावे कि " अन्यमतके विद्वानोंका मान करना " इसका इतना ही अर्थ है कि, यदि कोई अन्य मतका विद्वान अपने पास आवे तो उसको अपने पास बिठलाना और उससे आनंद पूर्वक वातचीत करनी, ग्रंथोंमें उसकी अथवा उसके धर्मकी पेट भरकर निंदा करनेमे कुछ बुराई नहीं! इसका तात्पर्य तो यह हो सकता है कि, किसी मतके विद्वानको मूंहसे गाली देनी अच्छी नहीं है, लिखकरके तो चाहे जितनी दी जावें उतनी थोड़ी हैं! अस्तु! इसप्रकारका सम्मान करनेवाले महाशयोंसे तो हमारा मौन ही उत्तरमें निवेदन है!

सज्जनो! " क्या मनुष्यादिपर दया करके उसका अन्नपानादिसे सत्कार करना और दूसरे मतके विद्वानोका मान करना दया नहीं है?" इस कथनसे स्वामीजी जैनोंपर क्या आक्षेप करना चाहते हैं? यह समझमें नहीं आता! क्या जैन उक्त कर्मको दया नहीं समझते? अथवा उनके शास्त्रोंमें क्या इस कर्मको दया नहीं बतलाया? ऐसा तो नहीं. क्योंकि, जैनशास्त्रोंमें वर्णन किये हुए—सुपात्र, अभय, अनुकंपा, कीर्त्ति और

उचित इन पांच प्रकारके दोनोंमेंसे अनुकंपा दानका यहीं तात्पर्य है कि, अनाथ-दीन-दुःखी मनुष्यादि प्राणियोंको (चाहे वह किसी जाति अथवा किसी मतके हों) दया भावसे अन्न वस्त्रादि देना और उनकी योग्य सेवा करनी। "धर्मविंदु" में जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि लिखते हैं कि,—"तथा दुःखितेष्वनुंकम्पा यथाशक्ति द्रव्यतो भावतश्च" अध्याय ३ सूत्र ६१। अर्थात् दुःखी प्राणियोंपर यथाशक्ति द्रव्यसे और भावसे दया करनी। एवं उक्त ग्रंथके टीकाकार "प्रायः सद्धर्मवीजानि" धर्मबिन्दु अ० २ सू० १ इत्यादि सूत्रमें लिखते हैं कि,—"सद्धर्मस्य सम्यक् ज्ञानदर्शन-चारित्ररूपस्य बीजानि कारणानि तानिचामूनि—दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषः गुणवत्सु च। औचित्यासेवनश्चैव, सर्वत्रैवाविशेषतः ॥ १ ॥ अर्थात् दुःखी प्राणियोंपर अति दया करनी (१) गुणी विद्वानोंसे अद्वेष अर्थात् प्रेम रखना। (२) सर्वत्र समभावसे उचित व्यवहारका आचरण करना। (३) यह तीनोंही ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप धर्मके मुख्य वीज अर्थात् कारण हैं। इसलिए जैनोंके विषयमें स्वामीजीका उक्त आक्षेप सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है।

इसके अनंतर जो स्वामीजीने कुछ विवेकसारका पाठ उद्धृत किया है उसके विषयमें हम केवल इतनाही कहना उचित समझते हैं कि, विवेकसारकी जैन धर्मके किसी भी माननीय ग्रंथमें गणना नहीं है! यह एक बिलकुल साधारण भाषाका छोटासा संग्रह ग्रंथ है! जबतक इसके उक्त लेखका आधार जैन मतके किसी मान्य ग्रंथमें न मिले तबतक इसपर विचार करना केवल पानी विलोनेके समान निष्फल है! परंतु विवेकसारके पाठको उद्धृत करके उसपर समीक्षा करते हुए

जो स्वामीजी जैनोंको अन्य मतके द्वेषी बतलाते हैं यह उनका अपूर्व साहस है ! संसारभरके धर्मोंकी जी खोलकर निंदा करते हुए भी स्वामीजी स्वयं तो अन्य मतोंसे सहानुभूति रखनेवाले बनें, और जैनोंको अन्य मतके विरोधी बतलावें ! पाठक महोदय ! क्षमा कीजिए, यह उनकी निरंकुशता नहीं तो क्या है ? हम नहीं समझते कि, स्वामीजीके अनोखे जीवनको आंखे मीचकर न्यायके संचेमें ढला हुआ बतलानेवाले कितनेक समाजी महाशय अन्यायका केंद्र किस जंगलकी चिड़ियाको समझ रहे हैं ? ।

सज्जनो ! जैनों तथा जैन ग्रंथोंपर लगाये हुए स्वामीजीके असभ्य अपवाद कहांतक सत्य हैं इसके संबंधमें हम अपनी तर्फसे कुछ भी न कहकर केवल जैनतत्त्वादर्श नामके ग्रंथका कुछ पाठ उद्धृत करते हैं. आशा है कि, इसको (उक्त पुस्तकसे उद्धृत किये हुए पाठको) ध्यान पूर्वक पढ़नेसे सत्यासत्यकी छानवीन करनेका आपको वहुत ही शीघ्र समय मिलेगा ! उक्त ग्रंथके निर्माता परलोकवासी जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि उर्फ* आत्मारामजी हैं. जैन शास्त्रोंद्वारा गृहस्थ धर्मका वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि—

" अत्र परतीर्थि-अन्यमतवालोंसे (जैन गृहस्थका)
" उचित व्यवहार लिखते हैं. यदि अन्यधर्मके (अर्थात् भिक्षु)
" भिक्षाके वास्ते (जैन गृहस्थके) घरमें आवें तो उनका
" उचित सत्कार करना, तथा राजाका एवं अन्य माननीय
" (पुरुषों) का योग्य सत्कार करना, यथायोग्य दान देना,
" यदि उन साधुओंपर भक्तिभाव न भी हो तो भी घरमें

---

*इस वीसवीं सदीमें जैन समाजमें आप एक नामांकित विद्वान् और प्रामाणिक पुरुष होगए हैं ।

" मांगने आयोंको देना चाहिये; क्योंकि दान देना यह गृहस्थका
" धर्म ही है. तथा अन्य कोई महान् पुरुष घरमें आवे तो
" (जैन गृहस्थ,) उसको आसन देना, सन्मुख जाना, उठकर
" खड़े होना आदिसे उचित सत्कार करे. तथा अन्यधर्मवाला
" किसी कष्टमें पडा होवे तो उसका उद्धार करे। दुःखी
" जीवोंपर दया करे. (घरमें आनेपर) अन्य मतवालोंसे
" काम काज पूछे, जैसे कि आपका आना किस प्रयोजनके
" वास्ते हुआ है ? पीछे वह जो काम बतावे उसको योग्य
" समझे तो पूरा करे. तथा दुःखी, अनाथ, अंधा, बहरा,
" रोगी आदि दीन लोगोंकी दीनताको अपनी शक्तिके
" अनुसार दूर करे. " इत्यादि :[जैनतत्त्वादर्श पृष्ठ ४१४]

इसके आगे सुपात्र प्रभृति दानोंके अवांतर भेदोंका वर्णन करते हुए आप लिखते हैं कि—(जैन गृहस्थ)
" अपनी शक्तिके अनुसार भोजनके समय (घरमें) आये हुए
" साधर्मीयोंको अपने साथ भोजन करावे, क्योंकि वे भी पात्र हैं.
" तथा अंधे आदि मांगनेवालोंको भी यथाशक्ति देवे, परंतु
" किसीको निराश न जाने देवे. धर्मकी निंदा न करावे,
" कठिन हृदयवाला न बने, भोजनके समय दयावान् (जैन
" गृहस्थको) कपाट लगाने न चाहिये. उसमें भी धनवान्को
" तो अवश्य ही कपाट नहीं लगाने, आगम (जैनग्रंथों)
" में कहा है कि—

" नेव दारं पिहावेई, भुंजमाणो सुसावओ ।
" अणुकंपा जिणिंदेहिं, सड्ढाणं न निवारिया ॥१॥
" दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसायरंमि दुक्खत्तं ।
" अविसेस अणुकंपं, दुहावि सामत्थओ कुणई ॥२॥

" अर्थात् भोजनके समयमें (जैन गृहस्थ) घरका
" दरवाजा बंध न करे, क्योंकि जिनेश्वर भगवान्ने श्रावक
" (जैन गृहस्थ) के लिये अनुकंपा दानका कहीं निषेध नहीं
" किया (१) भयानक संसारमें दुःखोंसे पीडित प्राणि समुदायपर
" द्रव्य और भावसे समान दयाभाव रखे (२) श्री पंचमांगादिकमें
" जहां श्रावकका वर्णन किया है वहां "अवगुंठिअ दुवारा"
" ऐसा पाठ लिखा है, अर्थात् भिक्षु आदिके प्रवेशके वास्ते श्राव-
" कको हरसमय दरवाजा खुला रखना चाहिये। दीनोंका उद्धार
" तो संवत्सरी दानमें तीर्थंकरोंने भी किया है। कदापि काल
" दुष्काल पड़ जावे तब तो श्रावक विशेष करके दानादिसे
" दीनोंका उद्धार करे। आगे विक्रम संवत् १३१९में भद्रेसर
" ग्राम निवासी श्रीमाल जातिके जैन गृहस्थ शाह झगडुने ११२
" दानशालायें दान देनेके लिये खोली थीं।" इत्यादि

[जैनतत्त्वादर्श पृष्ठ. ४९७–९८]

हमे आशा है कि, जैनतत्त्वादर्शके सप्रमाण उक्त लेखको ध्यान पूर्वक पढ़नेसे हमारे पाठक अवश्य ही किसी नतीजे पर पहुंच जायँगे। स्वामीजीका जैनोंके विषयमें परमत द्वेषी और निर्दयी आदि लिखना सभ्यता और सत्यताकी सीमाका कितना पालन कर रहा है इसकी मीमांसा वे अब बहुत ही सुगमतासे कर सकेंगे। हम अपने पाठकोंसे इतनां निवेदन और भी करते हैं कि, जनसाधारणकी सेवाका शंख फूकनेवाले स्वामीजी महाराजके नीचे लिखे हुए दयामय एक उपदेशको वे अवश्य पढ़ें।

सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २७८ में स्वामीजी लिखते हैं कि,–" परंतु जो ब्राह्मण नहीं हों उनका न ब्राह्मण नाम और न उनकी सेवा करने योग्य है "॥

विवेकसार पृष्ठ १०८का हवाला देते हुए स्वामीजीने नमुचि नामके दीवानकी कथा लिखकर जो जैनोंको हिंसक तक कह मारा है ! उसके बारेमें पाठकोंसे हमारा इतना ही निवेदन है कि, उक्त ग्रंथके पृष्ठ १०८में इस प्रकारकी कथाका उल्लेख नहीं है । अस्तु ! " तुष्यतु दुर्जनः " इस न्यायसे हम स्वामीजीकी उक्त कथाको थोडे समयके लिए सत्य मान कर ही उसपर विचार करते हैं । जैनोंने यदि मथुराके राजाके नमुचि नामा दीवानको अपना विरोधी समझकर मार डाला तो इससे स्वामीजीको क्या क्षति पहुंची थी जो उन्होंने जैनोंकी निंदा करनेमें जी तोड़ मेहनत की ? । हमारे ख्यालमें तो स्वामीजीको बहुत प्रसन्न होना चाहिए था ! क्योंकि उनके सिद्धांतसे यह कथा कितनेक अंशमें मिलती जुलती है ! जैसे-" शत्रुके नगरोंको उजाड़ने, वैदिक धर्मके विरोधियोंको आगमें जलाने, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियोंके मूंहमे देने और तड़फा तड़फा कर मारने " आदिका सदुपदेश स्वामीजी स्वयं ही भारत संतानको कर गए हैं !-देखो उनका यजुर्वेद भाष्य।

शोक है कि, नमुचि नामा दीवानको जैनोंने क्यों मारा ? उसने जैनोंका क्या अपराध किया था ? अथवा विना ही अपराधके उसको मार डाला ? इत्यादि बातोंका कुछ भी किसी जैन ग्रंथके आधारसे स्वामीजीने वर्णन नहीं किया ! यदि उक्त मंत्रीने जैनोंका कोई विशेष अपराध किया होगा तो उसको प्राणांत दंड देना कोई अनुचित काम नहीं; क्योंकि, स्वामीजी स्वयं लिखते है कि- " दुष्टोंको दंड देना भी दयामें गणनीय है " कदापि निरपराधको ही जैनोंने मारा हो ! यह स्वामीजी भले कहें ! इतिहास-

तो इस बातका घोर विरोधी है ! जैन राजाओंके समयमें भी जैनोंने किसी प्रकारका अन्य मतोंसे बलात्कार या अत्याचार नहीं किया, ऐसा इतिहाससे जान पडता है ! इसलिए अन्यमत सहिष्णुताके संबंधमें जैनोंको यदि हम प्रथम श्रेणीमें माने तो कोई अत्युक्ति नहीं है ! ! स्वामीजीने जो जैनोंको वृथा ही निर्दयी और हिंसक कहकर अपनी सरस्वतीको पवित्रत किया है इसके विषयमें हम उनको धन्यवाद ही देते हैं ! ! !

[घ]

स्वा० द० स०—" सम्यक श्रद्धान सम्यक दर्शन ज्ञान और चारित्र ये चार मोक्षमार्गके साधन हैं "। इनकी व्याख्या योगदेवने की है इत्यादि [सत्या० पृ० ४२८]

सर्वथाऽनवद्ययोगानां त्यागश्चारित्र मुच्यते । कीर्त्तितं तदहिंसादि व्रत भेदेन पंचधा ॥ सब प्रकारसे निन्दनीय अन्य मत संबंधका त्याग चारित्र कहाता है और अहिंसादि भेदसे पांच प्रकारका व्रत है । (सत्या० पृ० ४२९)

[घ]

समालोचक—स्वामीजीने जैन ग्रंथोंका कहां बैठकर अध्ययन किया होगा ? इसका पता लगाते हुए हम इसी परिणामपर पहुंचे हैं कि, वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि, जहांपर सिवा अंधकारके अन्य वस्तुका अस्तित्व ही न हो ! जैनके किसी भी ग्रंथमें मोक्षके उक्त चार साधन नहीं बतलाए. यदि किसी ग्रंथमें स्वामीजीके कथनानुसार लिखा होतो समझ लो कि वह जैन मतका ग्रंथ ही नहीं ! अस्तु ! वन्ध्यायाः भोग्यां विधातुं स्वामिन एव समर्थाः ! !

सज्जनो ! स्वामीजीकी प्राकृत संबंधि विज्ञताको छोड़ कर उनके संस्कृत पांडित्य परभी यदि कुछ दृष्टि डाली जावे तो वहांभी सिवा आंसू बहानेके और कुछ नहीं हो सकता ! जो लोग उनको महर्षि और भगवान्के वैलूनपर पर चढ़ा रहे हैं ! उन विचारोंकी भी शास्त्रीय योग्यता और संस्कृत ज्ञान हदसे पार ही होना चाहिए ! ऊपर लिखे हुए जैन ग्रंथके संस्कृत श्लोकके जिस आधे भागके नीचे लंबीसी लकीर खैंची है उसका अर्थ यदि आप एक लघुकौमुदी पढ़नेवाले विद्यार्थीसे भी पूछोगे तो वोह भी यह स्पष्ट बतला सकेगा कि, उक्त श्लोकका यह आधा भाग अशुद्ध है ! और स्वामीजीने जो उस (अशुद्ध) का भी अर्थ किया है उसका उक्त श्लोकके साथ इतना भी संबंध नहीं, जितना कि एक सन्यासी महात्माका वेश्याके साथ भी होता है ! हम हैरान हैं कि, "सर्वथानवद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते" इन अक्षरोंका "सब प्रकारके निंदनीय अन्य मत संबंधका त्याग" यह अर्थ स्वामीजीने किस व्याकरण अथवा पद्धतिके अनुसार किया है ? यद्यपि स्वामीजी इस समयमें नहीं हैं परंतु उनको भगवान्की मेलट्रेनमें सवार करानेवाले अभी लाखोंकी संख्यामें विद्यमान हैं ! उनमें पंडितंमन्योंकी भी कुछ न्यून संख्या नहीं ! क्या वे स्वामीजी महाराजकी उक्त अर्थ संबंधि मुग्धतामें कुछ सहानुभूति प्रकट करेंगे ? यदि कोई समाजी महाशय सत्यार्थ प्रकाशमें उद्धृत किये हुए उक्त श्लोकके ज्यूंके त्यूं पाठको जैन ग्रंथोंमेंसे बतलाने और व्याकरण अथवा अन्य किसी माननीय पद्धतिके अनुसार उसके स्वामीजी द्वारा किये गये अर्थको सत्य प्रमाणित करनेकी कृपा करें तो हम उनका

बड़ा ही आभार मानेंगे ! परंतु यह आशा यदि निष्फल नहीं तो सफल होनी भी असंभव है !

हम अपने विद्वान् पाठक समुदायसे भी प्रार्थना करते हैं कि, वे स्वामी महोदयके किये हुए अर्थपर अवश्य लक्ष दें ! उक्त श्लोकका अर्थ करते समय स्वामीजीने अकेली मुग्धतासे ही काम लिया हो ऐसा नहीं, किंतु उसके सहोदर दुराग्रहको भी अपने पास बिठा रखा था ! अन्यथा "अन्यमत संबंधका त्याग" यह किन अक्षरोंका अर्थ किया गया ? यह स्वामीजीने अन्यमतोंका जैनधर्म पर द्वेष बढ़ानेके लिए ही लिखा है ! ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है ।

स्वामीजीने सिख धर्मके आचार्य गुरु नानक देवजीकी खिल्ली उड़ाते हुए लिखा है कि–" वे चाहते थे कि मैं भी संस्कृतमें पग अड़ाऊं परंतु विना पढे संस्कृत कैसे आसकती है ? " [स० पृ० ३९६] हमारे ख्यालमें कदापि गुरु नानक देवजी, स्वामीजीके इस उपालंभके उत्तर दाता नभी हो सकें ! क्योंकि उन्होंने साधारण लोगोंके बोधके लिए केवल सरल पंजाबी भाषामें ही अपने सारगर्भित उपदेशोंका संग्रह किया है ! और वे संस्कृत जाननेका अभिमान करते हों ऐसा उनके लेखसे विदित नहीं होता ! इसलिए उनके यिषयमें इस प्रकारका आक्षेप करना सिवा ईर्षाके और कुछ तात्पर्य नहीं रखता ! हां ! स्वामीजीके संबंधमें यह बात अच्छी तरह संगठित हो सकती है ! क्योंकि उनपर इस बातकी जोखमदारी सबसे अधिक है ! वे महर्षि थे ! वे वेदोंके एवं शास्त्रोंके आचार्य थे ! उनके विशाल पांडित्यकी विजय पताका अभी तक भी फड़ फड़ा रही है ! इसलिए उनके किये हुए उक्त श्लोकके " कीर्त्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पंचधा " इस अवशिष्ट अर्द्ध भागके

"और अहिंसादि भेदसे पांच प्रकारका व्रत है" इस अर्थको देखकर हम विना संकोच यह कहनेका साहस कर सकते हैं कि, स्वामीजी जैन ग्रंथोंको पढ़े सुने तो कुछ भी नहीं थे! परंतु चाहते थे कि, मैं भी उनमें पग अडाऊं! परंतु विना किसी योग्य जैन विद्वान्‌की सेवा किये जैनग्रंथोंका मर्म कहां समझमें आ सकता है?

कदापि हम स्वामीजीके ही उक्त अर्थकी पूंछ पकड़कर चलें! तो भी किसी परिणामपर पहुंच सकें ऐसी हमे आशा नहीं! क्योंकि आगे चलकर जो उन्होंने उक्त श्लोक के संबंधमें समीक्षा की है वह सचमुच ही स्वामीजी के पूर्व कथन के विरोधमें एक निर्दय राक्षस सेना जैसा काम कर रही है! स्वामीजी, जैनोंकी तर्फसे पूर्वपक्षमें "सब प्रकारके निंदनीय अन्यमत संबंधका त्याग चारित्र कहाता है" लिखते हुए इसकी समीक्षा में फरमाते हैं कि—

"क्या यह छोटी निंदा है कि जिनके ग्रंथ देखनेसे ही
" पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाइजाती है उनको बुरा कहना!
" और अपने महा असंभव जैसाकि पूर्व लिख आये हैं वैसी
" बातों के कहनेवाले तीर्थंकरोंकी स्तुति करना! केवल हठकी
" बातें हैं भला जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके, न पढ़ सके,
" न दान देनेका सामर्थ्य हो तो भी जैनमत सच्चा है क्या
" इतना कहने हीसे वह उत्तम हो जाये और अन्यमतवाले श्रेष्ट
" भी अश्रेष्ट हो जायें? ऐसे कथन करनेवाले मनुष्योंको भ्रांत
" और बालबुद्धि न कहाजाय तो क्या कहें? इसमें यही विदित
" होता है कि इनके आचार्य स्वार्थी थे पूर्ण विद्वान नहीं थे।"

स्वामीजीकी समीक्षा उक्त श्लोकार्थ से कितना संबंध रखती है इसका इनसाफ हम पाठकोंपर ही छोडते हैं!

क्योंकि ऐसी महत्वपूर्ण समीक्षापर विचार करनेकी हममें योग्यता नहीं है । सच पूछो तो स्वामीजीकी समीक्षा और पंजाबीकी "वण विच फुलियां किक्करां, लग्गे सेऊ वेर । झड़ झड़ पैण परातडे, देख दालद्रा स्वाद !" यह कहावत, दोनो सगी बहने हैं ! । सभ्यवृंदो ! "सब प्रकारके निंदनीय अन्यमत संबंधका त्याग" इस कल्पित श्लोकार्थ परभी स्वामीजी यदि कुछ रोशनी डाल जाते तो भी वे किसी अंशमें स्तुत्य समझे जाने लायक थे ! अस्तु अब हम उक्त श्लोक और उसका ठीक ठीक अर्थ करके पाठकों के उन संदेहों को दूर करते हैं, जिनका स्वामीजीके लेखको देखकर होना एक स्वाभाविक है !!

"सर्वसावद्ययोगानां, त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्तितं तदहिंसादि–व्रतभेदेन पञ्चधा ॥

अर्थ—सर्व प्रकार के पापयुक्त व्यापारके परित्यागका नाम चारित्र है, वह (चारित्र) अहिंसादि (अहिंसा १ सत्य २ अस्तेय ३ ब्रह्मचर्य ४ अपरिग्रह ५) व्रत भेदसे पांचं प्रकारका है. इसका स्फुट भाव यह है कि, सब तरह के बुरे कामोंको छोड़नेका नाम चारित्र है. वह, किसी जिवको मारना नहीं १, सत्य बोलना २, चोरी नहीं करना ३, ब्रह्मचर्य रखना ४, किसी वस्तुमें ममत्व नहीं रखना ५, इन भेदोंसे पांच तरहका है । जिनको पातंजल दर्शन और मनुस्मृतिमें यमके नामसे पुकारा है, उन्हींकी जैन शास्त्रोंमें व्रत संज्ञा है. इनका निरंतर पालन करना स्वामीजी भी बतलाते हैं ! देखो [सत्या० पृ० ४७]

सज्जनो ! उक्त श्लोकमें क्या ही सुंदर एवं शांतिमय उपदेशका सरल और स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है ! एक साधारण पढा लिखा हुआ भी बड़े अनायाससे समझ सकता

है ! परंतु स्वामीजी जैसे प्रखर विद्वान् ऐसे सार गर्भित उपदेशके विषयमें विना ही समझे क्षुद्रताका परिचय देवें यह कितने दुःखकी बात है ! ! सत्य है—

" घूमा कोकिल वृंद बीच सुखसे आजन्म तू काक रे,
छोड़ा किंतु कटूक्तिको न फिर भी हा हंत तूंने अरे ॥
किंवा है लवलेश दोष इसमें तेरा नहीं दुर्मते,
या यस्य प्रकृतिः स्वभाव जनिता केनापि न त्यज्यते ॥१॥"

[छ]

स्वा० द० स०—

मूल—जिणवर आणाभंग, उमग्ग उस्सुत्तलेसदेसणओ ।
आणा भंगे पावं, ता जिणमय दुक्करं धम्मं ॥ षष्टी श.सू.११.

"उन्मार्ग उत्सूत्रके लेश दिखानेसे जो जिनवर अर्थात् वीतराग तीर्थंकरोंकी आज्ञाका भंग होता है वह दुःखका हेतु पाप है. जिनेश्वरके कहे सम्यक्त्वादि धर्मका ग्रहण करना बडा कठिन है इसलिये जिस प्रकार जिन आज्ञाका भंग न हो वैसा करना चाहिये ॥ १ ॥ (समीक्षक) जो अपने ही मुखसे अपनी प्रशंसा और अपने ही धर्मको बड़ा कहना और दूसरेकी निंदा करनी है वह मूर्खताकी वात है क्योंकि प्रशंसा उसीकी ठीक है जिसकी दूसरें विद्वान् करें अपनें मुखसे अपनी प्रशंसा तो चौर भी करते हैं तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं ? इसी प्रकारकी इनकी बातें हैं"
[सत्यार्थ प्र० पृ० ४२९-३०]

[छ]

समालोचक-स्वामीजी कहते हैं कि-" अपने मुखसे अपनी बड़ाइ करनी मूर्खताका काम है" उनका यह कथन सचमुचही सुवर्णाक्षरोंमें मुद्रित करने लायक है ! अपने मूंहसे

अपनी बड़ाई करनी मूर्खता ही नहीं ! प्रत्युत पामरता भी है ! परंतु इस कथनका ऊपर कही गई प्राकृत गाथाके साथ क्या संबंध है, इसका उत्तर यदि किसी निष्पक्ष विद्वान्से पूछा जावे तो आशा नहीं कि वह स्वामीजीकी स्वैरिणी इच्छाके सिवा कुछ औरभी कहनेका साहस कर सके! क्या ऊपर लिखे हुए प्राकृत श्लोकमें अपने मुखसे अपनी बड़ाई और अन्यकी निंदा करनेका उपदेश है ? यदि नहीं तो हमें बलात् कहना पड़ेगा कि, स्वामीजी जैनमतके संबंधमें अवश्य ईर्षाकलुषित थे !

सज्जनो ! किसी एक आदमीको सिरमें धोती और कमरमें कमीज बांधते देख कर पासमें बैठे हुए एक भद्रपुरुषने कहा कि, मित्र ! ऐसा मत करो ! धोतीको कमरमें बांधो और कमीजको गलेमें डालो ! यह सुन वह बोला कि, बस करो साहिब रहने दो ! कल आपने भी तो लड़केकी शादी करी थी जिसमें हमको बुलाया तक भी नहीं ! सचमुच ही स्वामीजीकी समीक्षाकी भी यही दशा है ! उक्त श्लोकमें कथन तो यह है कि, " उत्सूत्रता और उन्मार्गतासे तीर्थंकरोंकी आज्ञाका भंग होता है वह पाप है इसलिए उनकी आज्ञाका उल्लंघन करना उचित नहीं " परंतु स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि-" अपने मुखसे अपनी बड़ाई और दूसरेकी निंदा करनी मूर्खताकी बात है " पाठक महोदय ! कहिए ! स्वामीजीके ग्रंथोंसे अतिरिक्त भी कहीं इस प्रकारकी समीक्षा देखनेमें आई ? देखो भी कहां ! स्वामीजी जैसा दूसरा समीक्षक आज तक कोई पैदा हुआ ही नहीं ! हां ! भविष्यत्में कोई हो जाय तो हम कह नहीं सकते !

हमारे वर्त्तमान आर्य महाशयोंको यह जान कर बड़ा ही प्रसन्न होना चाहिये कि, भगवान स्वामी दयानंद सरस्वती

महाराज, वेद भाष्योंके अमूल्य रत्न भंडारको उनके सपुर्द कर जानेके अतिरिक्त अपनी अगाध बुद्धिका यह (जैनमतकी समीक्षा) नमूना भी इनके पास छोड़ गए हैं ! जिससे उनकी विद्वत्ताका परिचय प्राप्त करवानेके लिए इनको किसी प्रकारका परिश्रम भी न उठाना पड़े ! हमारे ख्यालमें तो स्वामीजीके स्वर्णमय प्रशस्त जीवनकी परीक्षाके लिएं यह समीक्षा ही बड़ी मजबूत कसौटी है ! अस्तु ! अब हम प्रकारांतरसे इस बात पर विचार करते हैं.

सज्जनो ! षष्ठिशतकके रचयिताके कथनका इतना ही सरल और स्पष्ट सार है कि, " भगवान् वीतरागके उपदेशसे विरुद्ध कथन करना और आचरण करना उचित नहीं है " इसका तात्पर्य यदि स्वामीजीने " अपने मुखसे अपनी बड़ाई " करनाही समझके जैनोंके पूजनीय तीर्थंकरों और आचार्योंको मूर्ख बतलाकर उनका दिल दुःखाया हो ! तब तो पाठक, क्षमा करें ! हम विवश हैं ! स्वामीजीकी [" अच्छा तो वेदमार्ग है जो पकड़ा जाय तो पकड़ो नहीं तो सदा गोते खाते रहोगे "-"जो पाषाणादि मूर्त्ति पूजते हैं वे अतीव वेदविरोधी हैं "-" जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषोंके किये शास्त्रोंका अपमान करता (नहीं मानता) है उस वेदनिंदक नास्तिकको जाति पंक्ति और देशसे बाह्य कर देना चाहिये"-"सच तो यह है कि जिन्होंने वेदोंसे विरोध किया और करते हैं और करेंगे वे अवश्य अविद्या रूपी अंधकारमें पड़के सुखके बदले दारुण जितना *दुःख पावें उतनाही न्यून है"]. यह ललित लेखमाला उनको मूर्खोंका भी सरदार बना रही

* स्वामीजीने ये भयंकर शब्द मानुषी दशामें लिखे होंगे या अन्य किसीमें ? यह विचार करने योग्य है !!!

है ! इतना ही नहीं इसने उनके जीवन के प्रत्येक विभागका फोटो खैंचकर भी मध्यस्थ समाजके सामने रख दिया है !!

सज्जनो ! अपने मुखसे अपनी बड़ाई करनी किसका नाम है, यह बात हम स्वामीजी के ही लेखसे आपको बतलाते हैं ! सत्यार्थ प्रकाशके पृष्ठ १७९में हमारे माननीय स्वामीजी महाराज लिखते हैं—[" ईश्वर सबको उपदेश करता है " कि, हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान सब जगत्का " पति हूं, मैं सनातन जगत्का कारण और सब धनोंका विजय " करनेवाला और दाता हूं, मुझहीको सब जीव जैसे पिताको " संतान पुकारते हैं वैसे पुकारें, मैं सबको सुख देनेहारे जगत् " के लिये नाना प्रकारके भोजनोंका विभाग पालनके लिये " करता हूं ॥३॥ मैं परमैश्वर्यवान् सूर्यके सदृश सब जगत्का " प्रकाशक हूं, कभी पराजयको प्राप्त नहीं होता और न कभी " मृत्युको प्राप्त होता हूं, मैं ही जगत्रूप धनका निर्माता हूं " सब जगत्की उत्पत्ति करनेवाले मुझकोही जानो, हे जीवो ! " ऐश्वर्य प्राप्तिके यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धनको " मुझसे मांगो और तुम लोग मेरी मित्रतासे अलग मत होओ ! " हे मनुष्यो ! मैं सत्य भाषण रूप स्तुति करनेवाले " मनुष्यको सनातन ज्ञानादि धन देता हूं, मैं ब्रह्म अर्थात् " वेदका प्रकाश करने हारा और मुझको वह वेद यथावत् " कहता उससे सबके ज्ञानको मैं बढ़ाता, मैं सत्पुरुषका प्रेरक " यज्ञ करने हारेको फल प्रदाता और इस विश्वमें जो कुछ " है उस सब कार्यका बनाने और धारण करनेवाला हूं इसलिए " तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरेको मेरे स्थानमें मत " पूजो मत मानो और मत जानो "]

प्यारे सभ्य पाठको ! संसारमें वस्तु तत्त्वको समझनेवाले यदि न्यून संख्यामें हैं तो उसके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले भी स्वामीजी जैसे थोड़े ही महापुरुष निकलते हैं ! इसीलिए संसार उनको अधिक सन्मानकी दृष्टिसे अवलोकन करता है ! अपने मुखसे अपनी बड़ाई करनेवालेका चित्र उक्त लेखमें यथावत् जैसा स्वामीजीने खैंचा है ऐसा दूसरा कोई खैंच सके यह बात यदि असंभव नहीं तो सहज भी नहीं ! परंतु स्वामीजीके उक्त लेखपर विचार करनेसे एक जिज्ञासु मनुष्यके हृदयमें जितने संदेह उत्पन्न होते हैं उन सबको यदि एकत्रित करके लिखा जावे तो एक अच्छासा ग्रंथ बन जानेमें भी कुछ संदेह नहीं ! यद्यपि अन्यान्य शंकाओंके संबंधमें इस समय हमको कुछ वक्तव्य नहीं है परंतु एक बातपर हम अवश्य कुछ विचार करना चाहते हैं.

स्वामीजीका उक्त (ईश्वर सबको उपदेश करता है इत्यादि) लेख यदि सत्य है तब तो उनके कथनानुसार ईश्वरको मूर्खोंका भी गुरु समझना चाहिए ! क्योंकि उसने अपने मूंहसे अपनी इतनी बडाई की है कि उसका सहस्रांश भी दूसरा करसके ऐसी संभावना नहीं ! अपने मुखसे अपनी बड़ाई करनेवालेको मूर्ख तो स्वामीजी स्पष्ट ही बतला रहे हैं ! यदि स्वामीजी झूठ लिख रहे हैं तो उनका अन्यान्य कथन भी ऐसा ही क्यों न माना जाय ? इसलिए स्वामीजीकी लकीरके फकीर महाशयोंसे हमारी प्रार्थना है कि, वे इतना बतलानेकी अवश्य कृपा करें कि, स्वामीजीके लेखानुसार ईश्वरको मूर्ख कहना, या महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वतीजीको झूठा ठहराना, इन दोनोंमेंसे उनको क्या अभीष्ट है ?

[ज]

स्वा० द० सं०--

मूल-*बहुगुण विज्जानिलओ, उस्सुत्तभासी तहावि मुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तोविहु, विग्घ करो विसहरो लोए॥
षष्ठि श० सू० १८॥

जैसे विषधर सर्पमें मणि त्यागने योग्य है वैसे जो जैनमतमें नहीं वह चाहे कितना बड़ा धार्मिक पंडितहो उसको त्याग देना ही जैनियोंको उचित है॥ (समीक्षक) देखिये कितनी भूलकी बात है जो इनके चेले और आचार्य विद्वान् होते तो विद्वानोंसे प्रेम करते जब इनके तीर्थंकर सहित अविद्वान हैं तो विद्वानोंका मान्य (मान) क्योंकर करें? क्या सुवर्णको मल वा भूड़में पडेको कोई त्यागता है? इससे यह सिद्ध हुआ कि विना जैनियोंके वैसे दूसरे कौन पक्षपाती हठी दुराग्रही विद्या हीन होंगे?॥

[ज]

समालोचक—सज्जनो! स्वामीजी एक अच्छे विद्वान् मनुष्य थे, यह बात बहुधा सत्य है! हम उनको उसी दृष्टिसे देखते हैं जैसे कि एक महा पुरुषको देखना चाहिए! परंतु उनके जीवनकी दीवारको पक्षपातके कीड़ोंने इतना खोखला बना दिया कि किसी दिन उसके अस्तित्वमें भी आशंका है! स्वामीजीने जैनमतकी समीक्षा की, यह बुरी बात नहीं! क्यों कि समीक्षा मनुष्य जीवनको उच्च बनानेका एक सरल साधन है, परंतु वह यदि न्यायपूर्ण हो! मनुष्यजीवनको स्वच्छ

*बहुगुणविद्यानां निलयोपि गुरुरुत्सूत्रभाषी तथापि मोक्तव्यः यथा श्रेष्ठ मणियुक्तोपि निश्चये मृत्युकरः विषधरः सर्पः जगति।इत्यवचूरिकारः॥

और निर्मल बनानेके लिए जितना न्यायमार्ग उपयोगी है उससे कई गुणा अधिक मनुष्य जीवनको बरबाद करनेवाला अन्याय मार्ग है ! अन्याय और पक्षपात इनमें केवल नाम मात्रका अंतर है ! पक्षपातमें यह बड़ा भारी गुण है कि, वह सत्यको अपने नजदीक फटकने नहीं देता ! सत्यके न रहनेसे धर्मकी वहां दाल गले यह तो असंभव ही है ! जहांसे धर्मने अपना दंड कमंडलू उठा लिया वहां तो फिर अल्लाउद्दीनका ही न्याय शासन चलावेगा !

हमारा यह सब लिखनेका प्रयोजनमात्र इतनाही है कि, स्वामीजीने महात्माके जीवनका जो वास्तविक उद्देश होना चाहिए उससे सर्वथा विपरीत ही समझा मालूम देता है ! उनके जीवनके किसी भी विभागको फोलकर देखो वहांसे बहुधा अन्यायकी ही सुगंधि आवेगी ! जो कुछ वहां न्यायके परमाणु देखनेमें आते हैं उनकी भी बड़ी मलिन दशा है । ऐसा जीवन धार्मिक संतानको कितना हितकर हो सकता है यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं ! स्वामीजीने जो ऊपर लिखी प्राकृत गाथाका अर्थ किया है वह पक्षपातसे ही सर्वथा ओत प्रोत है ! इसीलिए हमने उसके नीचे लकीर खैंच दी है. विद्वान् वर्गसे हमारा सविनय निवेदन है कि, वह उक्त गाथा और उसके (स्वामीजी रचित) अर्थका बड़े मध्यस्थ भावसे अवलोकन करके स्वामीजीकी निष्पक्षतासे अवश्य परिचय प्राप्त करें !

उक्त गाथाका अर्थ बड़ा ही सरल और सुबोध है ! चाणिक्य नीतिमें जो—

" दुर्जनः परिहर्त्तव्यो, विद्ययालङ्कृतोपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः, किमसौ न भयङ्करः ? ॥ "

लिखा हैं. अर्थात् दुर्जन मनुष्य यदि विद्यासे भी युक्त हो तो भी उसको त्याग देना चाहिए ! क्या मणिसे युक्त सर्प भयके देनेवाला नहीं होता ? इसका स्फुट भाव यह है कि, जैसे मणियुक्त भी सर्प भयप्रद होनेसे त्यागने योग्य है ! ऐसे दुर्जन, यदि विद्वान् भी हो तो भी उसको त्याग देना !

बस ! ऊपर लिखी षष्ठिशतककी गाथाका भी ऐसा ही अर्थ है. अर्थात् मणिसे युक्त भी विषधर–सर्प विघ्नकारक होनेसे जैसे त्यागने योग्य है इसीप्रकार शास्त्रसे विरुद्ध कथन और आचरण करनेवाला यदि विद्वान् भी हो तो भी वह त्याग देने लायक है ! अर्थात् उसकी संगत करनी अच्छी नहीं !

इसके इलावा स्वामीजीने (जो जैन मतमें नहीं है— इत्यादि) जो अर्थ किया है, वह केवल उनकी निजकी कल्पना है ! उक्त गाथामें ऐसा कोई पद नहीं जिसका यह अर्थ हो सके !

सज्जनो ! यह उपदेश इतना सुंदर और सार गर्भित है कि, संसार भरका कोई भी निष्पक्ष विद्वान् इसकी प्रशंसा किए विना न रहेगा ! परंतु स्वामीजीने जैन आचार्यों और तीर्थंकरोंको वृथा ही मूर्ख बतलाकर संसारभरकी कालिमासे अपने मुखको उज्ज्वल क्यों किया ? इसका जवाब देनेमें हम असमर्थ हैं। एवं स्वामीजी उक्त उपदेशको दूषित ठहरानेकेलिए युक्ति देते हैं कि, " क्या सुवर्णको मल वा धूड़मे पड़ेको कोई त्याग देता है " परंतु स्वामीजीका यह कथन उक्त उपदेशके प्रतिवादमें कितना असंगत और भद्दा है, इसको वृद्धसे लेकर बालक भी अनायाससे समझ सकते हैं ! इसलिए स्वामीजीकी ऐसी प्रसिद्ध मुग्धतापर विशेष लिखना उनका अपमान करना है !

इसके अनंतर उक्त उपदेशका स्वामीजी हमको सार बतलाते हैं कि, इससे यह सिद्ध हुआ कि विना जैनियोंके वैसे दूसरे कौन पक्षपाती हटी दुराग्रही और विद्याहीन होंगे."

सज्जनो ! यह स्वामीजीकी मधुर भाषाका नमूना है ! जो कि उनके पवित्र मुखसे निकला हुआ है ! अच्छा स्वामीजी ! जैन तो पक्षपाती हटी दुराग्रही और विद्याहीन हैं ! परंतु आप तो उक्त दोषोंसे सर्वथा मुक्त थे ! इसी लिए आपने जैनोंको इन शब्दोंसे याद किया ! अत : हम उस गुजरात–काठियावाड़ भूमिको हृदयसे धन्यवाद देते हैं जहां पर आप जैसे पक्षपात आदि दोषोंसे रहित महानुभावोंका अवतार हुआ ! वह जननी भी सहस्रशः धन्यवादके योग्य है जिसकी कुक्षीसे आप जैसे अमूल्य रत्न पैदा हुए ! स्वामीजीके इन पूर्वोक्त मनोहर वचनोंके संबंधमें उनके भक्तोंको हम बधाई देते हैं और स्मरण कराते हैं कि,—

" तूं भला है तो बुरा हो नहीं सकता ऐ ज़ौक़ !
है बुरा वही कि जो तुझको बुरा जानता है ! "

[झ]

स्वा० द० स०—

मू.—*अइसयपावियपावा, धम्मिअपव्वेसु एव पावरया ।
न चलंति सुद्ध धम्मा, धन्ना केवि पावपव्वेसु ॥

[षष्टिश० २९]

* सत्यार्थ प्रकाशमें यह गाथा बहुत ही अस्त व्यस्त लिखी हुई है ! जो कि स्वामीजीके प्राकृत ज्ञानका एक नमूना है ! प्रायः सर्वत्र ही गाथाओंको तोड़ फोड़ उसकी संकलना और वाक्य रचनाका स्वामीजीने नाश कर दिया है ! यही स्वामीजीकी प्राकृत अज्ञताका पूर्ण दृष्टांत है ! !

अन्यदर्शनी कुलिंगी अर्थात् जैनमत विरोधी उनका दर्शन भी जैन लोग न करें ॥ २९ ॥ (समीक्षक) बुद्धिमान लोग विचार लेंगे कि यह कितनी पामरपनकी बात है—इत्यादि [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४३०]

[झ]

समालोचक—स्वामीजीकी इस निष्पक्ष समीक्षाके विषयमें हम अपनी सम्मति प्रगट करें, इससे पूर्व संस्कृत प्राकृतके जाननेवाले पाठक महोदयोंसे हमारा साग्रह निवेदन है कि, वे कृपा करके स्वामीजीके किए हुए उक्त प्राकृत श्लोकके अर्थपर जिसके नीचे लंबी लकीर खैंची है प्रथम अवश्य विचार करें ! ! हमे आशा है कि, उनके विचार करनेसे स्वामीजीके कल्पित सत्य और मध्यस्थ विचारोंके अगाध समुद्रमें देरसे डूबी हुई कितनीक भद्र आर्यप्रजाको सद्यः ही निकलनेका सौभाग्य प्राप्त होगा !

स्वामीजीका जैनोंके संबंधमें इस प्रकारके अहेतुक सर्वथा द्वेष भरे उद्गारोंके निकालनेका क्या हेतु होगा ? यह समझनेके लिए हम बहुत असमर्थ हैं । हमें बड़े दुःखसे कहना पड़ता है कि, ऊपर लिखे प्राकृत श्लोकमें ऐसा एक भी अक्षर नहीं कि, जिसका " जो जैनमतका विरोधी हो उसका दर्शन भी जैन लोग न करें " यह अर्थ हो सके !

उक्त श्लोकका सीधा सादा निर्विवाद अक्षरार्थ यह है कि, " अतिशय पापरक्त पुरुष, धार्मिक पर्वोंमें भी पाप करनेसे नहीं चूकते । एवं कितनेक पुण्यशाली धर्मात्मा पुरुष अधार्मिक पर्वोंमें भी धर्म कार्योंके करनेसे च्युत नहीं होते "*

* " अतिशयपापिनो धर्मपर्वस्वपि पापरता एव भवन्ति । एवं केपि धन्याः शुद्धधर्मात्पापपर्वस्वपि न चलन्ति " इत्यवचूरिकारः।

सज्जनो ! संसारके प्रचलित धर्मोंमेंसे हरएक धर्मने अपने २ सांप्रदायिक कृत्योंके अनुष्ठानके लिए वर्षभरमें कितनेक दिन निश्चित कर रखे हैं. जैसे कि, हिंदु सनातन धर्मियोंमें दुर्गानवमी, विजया दशमी, दीवाली, होली, पंचभीष्म, नागपंचमी आदि । जैनोंमें पर्युषणा (पजोसण) आदि । मुसलमानोंमें ईद और रोजे वगैरह । पारसियोंमें पतेती वेहमनजशन आदि। ईसाइयोंमें बड़े दिन अप्रेल फुल आदि । ये प्रायः पर्वके नामसे ही प्रसिद्ध हैं, जिनका दूसरा नाम त्योहार भी कहनेमें आता है.

षष्टि शतकके रचयिताने किसी अपेक्षासे इनको धार्मिक और अधार्मिक इन दो भागोंमें विभक्त किया है. उसका कथन है कि, जिनमें किसी भी निरपराध प्राणिकी हिंसा करनेमें न आवे, और सात्विक श्रद्धामय धर्मका प्रचार करनेमें आवे; वे धार्मिक पर्व हैं. और जिनमें धार्मिक प्रवृत्तियोंके बदले केवल निरपराध प्राणियोंका गला काटकर खुशी मनाई जावे ! उनकी अधार्मिक पर्वोंमें ही गणना करनी उचित है !

हमारे पाठक इस बातसे अपरिचित न होंगे कि, हिंदुओ, मुसलमानो, और ईसाइयोंमें कितनेक ऐसे त्योहार-पर्व पाये जाते हैं कि, जिनमें धर्मके नामसे सैंकड़ों अनाथ प्राणियोंके कोमल गलों पर बड़ी निर्दयतासे छुरी फेरी जाती है ! इस प्रकारके पर्वों और उनके उपदेशकोंका जैनोंने इस हेतुसे प्रतिवाद किया है कि, इन दिनोंमें इस तरहके अधार्मिक कृत्य होते हैं, यदि इन दिनोंमें भी धर्म संबंधी ही कार्य किये जावें तब तो इनको धार्मिक पर्व कहने और उनके उपदेष्टाओंको धर्मात्मा स्वीकार करनेमें जैनोंको किसी प्रकार का भी आग्रह नहीं. वस्तुतः होना भी ऐसा ही चाहिए. उक्त ग्रंथके रचयिताका कथन केवल अशुद्ध प्रवृत्तिको लेकर है,

न कि, वरतु स्थितिकी दृष्टिसे। ऐसा उक्त ग्रंथके पाठ करनेसे मालूम होता है.

सज्जनो ! हमने सरल रीतिसे आपको उक्त श्लोकका अर्थ–भाव बतला दिया है, अब स्वामीजीका किया हुआ अर्थ और उसकी समीक्षाके साथ इसकी तुलना करनी आपका फर्ज है। स्वामीजी अपने श्रीमुखसे जैनोंको पामर (नीच) कहते हैं ! परंतु हम जैनोंसे निवेदन करते हैं कि, इसके उत्तरमें वे स्वामीजीको उत्तमपुरुष कह कर ही याद किया करें ! क्योंकि–

" जो तुझको कांटे बोये, उसको बो तूं फूल ।
वे कांटे उसके लिए, तुझे फूलके फूल ॥ "

[ट]

स्वा० द० स०–

*नामंपि तस्स असुहं, जेण निदिट्ठाइं मिच्छपवाइं ।
जेसिं अणुसंगाओ, धम्माणावि होई पावमई ॥षष्टिशतक २७॥

जो जैनधर्मसे विरुद्ध धर्म हैं वे सब मनुष्योंको पापी करनेवाले हैं इसलिये किसीके अन्य धर्मको न मान कर जैन धर्मको ही मानना श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥ (समीक्षक) इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे वैर विरोध निंदा ईर्षा आदि दुष्ट कर्म रूप सागरमें डुबानेवाला जैन मार्ग है जैसे जैनी लोग सबके निंदक हैं वैसा कोई भी दूसरा मतवाला महा निंदक और अधर्मी न होगा–इत्यादि [स. प्र. पृ. ४३१]

[ट]

समालोचक–सज्जनो ! "जो जैन"–से लेकर–"श्रेष्ठ है" तकका लेख स्वामीजीका निजका है, उक्त श्लोकके साथ उसका

*सत्यार्थ प्रकाशमें यह गाथा अस्त व्यस्त और अशुद्ध लिखी हुई है !

अणुमात्र भी संबंध नहीं ! स्वामीजी जिस सचाईसे जैन सिद्धांतोंका खंडन करते हैं उसकी यह बन्नगी है ! परंतु वह जमाना अब बहुत दूर नहीं है जिसमें स्वामीजीकी सचाईकी डुगडुगी संसार भर पीटने लगेगा ! अस्तु ! प्रथम हम पाठकोंको उक्त श्लोकका अर्थ बतला देते हैं. इस श्लोकका सीधा अक्षरार्थ यह है कि,—"उसका नाम भी अच्छा नहीं जिसने मिथ्यापर्वों झूठे त्योहारोंका उपदेश किया है ! क्योंकि इनके प्रसंगसे धर्मात्मा मनुष्योंकी भी बुद्धि पापमें संलग्न हो जाती है !" *

जिस श्लोक पर हम पीछे विचार कर आए हैं वह श्लोक इससे दो श्लोक आगेका है, अर्थात् वह २९ का है और यह २७ का है । हमारे ख्यालमें तो उक्त श्लोकमें कोई अनुचित उपदेश प्रतीत नहीं होता. क्योंकि, निंदनीय व्यवहारों कुरीतियोंका उपदेशक मनुष्य कभी भी सभ्य संसारमें गौरवको प्राप्त नहीं होता ! जो सभ्य समुदायकी दृष्टिसे तिरस्कृत है, वह सचमुच ही नाम लेनेलायक नहीं ! जिन सज्जनोंको संस्कृत प्राकृतका ज्ञान बहुत थोड़ा है उनसे भी हमारा निवेदन है कि, वे भी किसी योग्य विद्वान्से मिलकर स्वामीजीके लिखे हुए उक्त श्लोकके अर्थकी सत्यताका अवश्य निश्चय करें ! स्वामीजी षष्टिशतकके उक्त प्राकृत श्लोककी समीक्षा बड़ी ही सभ्यतापूर्वक करते हैं ! आप कहते हैं कि,—"इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे वैर विरोध निंदा ईर्षा आदि दुष्ट कर्मरूप सागरमें डुबानेवाला जैन मार्ग है" हमको स्वामीजीके इन शब्दोंको पढ़कर यह विचार हो रहा है कि, स्वामीजीने यह समीक्षा लिखते समय मनुष्यत्वको कहांपर रख छोड़ा होगा ? सज्जनो ! स्वामी दयानंद सरस्वतीजी

*नामापि तस्याशुभं येनोपदिशितानि रजःपर्वादीनि मिथ्यात्वपर्वाणि येषामनुषंगात्सं योगात् धर्मवतां सतामपि पापमतिर्भवति" इत्यवचूरिकारः॥

जैसे ही महापुरुष मनुष्यता और सभ्यताका खून करने लग जावें यह कितने दुःखकी बात है ?

[ठ]

स्वा० द० स०—

*-हा ! हा ! गुरुअ अकज्जं, सामी नहु अत्थि कस्स पुक्करिमो।
कह जिणवयणं कह सुगुरु, सावया कह इअ अकज्जं॥ प. श. ३५॥

सर्वज्ञ भाषित जिन वचन जैनके सुगुरु और जैन धर्म कहां और उनसे विरुद्ध कुगुरु अन्य मार्गिके उपदेश कहां अर्थात् हमारे सुगुरु सुदेव सुधर्म अन्यके कुदेव कुगुरु कुधर्म हैं ॥ ३९ ॥ (समीक्षक) यह वात बेर वेचने हारी कूंजडीके समान है जैसे वह अपने खट्टे वेरोंको मीठा और दूसरीके मीठोंको खट्टा और निकम्मे वतलाती है इसी प्रकारकी जैनियोंकी वाते हैं [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४३१]

[ठ]

समालोचक—सज्जनो ! स्वामीजीकी समीक्षापर अब हम कुछ विशेष विचार नहीं करेंगे ! स्वामीजीकी समीक्षापर समालोचना करनेका विशेष अधिकार वही मनुष्य रख सकता है जो कि, अन्य धर्मों और उनके आचार्योंको स्वामीजीकी तरह बड़े खुल्ले शब्दोंमें ऊंचा नीचा कहनेके लिए समर्थ हो ! इसलिए—" जबावे जाहलां बाशुद खामोशी "की मिसालसे

---

* सत्यार्थ प्रकाशमें स्वामीजी महाराजने जितनी षष्टि शतककी गाथाएँ उद्धृत की हैं प्रायः सबकी सब अशुद्ध और अस्तव्यस्त लीखी हैं जिनसे स्वामीजी महाराजका प्राकृत ज्ञान खूब ही झलक रहा है ! पाठकवृंद हमारी लिखी हुई और सत्यार्थ प्रकाशमें लिखी हुई गाथाओंका मिलान करके देख लेवें . क्योंकि पुनः पुनः लिखनेके बदले प्रथमसे ही गाथाको शुद्ध करके यहां हमने उद्धृत किया है।

चुप रहना ही उनकी समीक्षाकी समालोचना है! परंतु भद्र समाजको उनकी इस शिष्ट पद्धतिका परिचय हम अवश्य करवाते रहेंगे. पाठकोंको इस बातका ख्याल रहे कि, उक्त प्राकृत श्लोकका अर्थ करते समय स्वामीजीने अपने पूर्व स्वभावका परिवर्तन नहीं किया! यहांपर भी उन्होंने अपनी आदतके अनुसार अर्थमें कुछ फेरफार किया है! प्रकरण प्राप्त उक्त श्लोकका स्पष्ट भावार्थ यह है कि–उक्त ग्रंथके रचयिता अपने समयमें होनेवाले जैन वेषधारी दंभी साधुओं और उनके वैसेही भक्तोंको जैनशास्त्रोंसे विरुद्ध आचरण करते देख अंतःकरणमें खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि—

"बडे दुःखकी बात है! किसके आगे पुकार करें? कोई प्रभु नहीं है! कहांतो जिनेंद्र भगवानका कथन और उसके अनुसार शुद्ध चारित्रके पालनेवाले सुगुरु, अर्थात् गुरु कहाने योग्य जैन साधु और उनकी भक्ति करनेवाले जैन गृहस्थ! और कहां ये जैन वेषधारी शिथिलाचारी जैन शास्त्रोंकी आज्ञासे विरुद्ध आचरण करनेवाले कुगुरु और उनकी सेवा करनेवाले ये नाम मात्रके श्रावक (जैन गृहस्थ!) इसलिए यह बड़ा अकार्य है!!" *

---

* "हा हा खेदे गुरुत्वाकार्ये स्वामी कोपि नास्ति यः शिक्षां दत्ते कस्याग्रे पूत्क्रियते? केदं जिनवचनं निष्कलंकं! क्व सुविहिता गुरवः! क्व चोत्तमाः श्रावका धर्मरहस्यार्थिनः! इत्यकार्यमित्यक्चूरिकारः॥"

सभ्य वृंदो ! यदि इस प्रकारके निष्पक्ष उपदेशमें भी स्वामीजीको कूंजड़ीके ही बेरोंके स्वप्न आवें तो यह उनके भाग्यकी बात है ! हमारा इसमें कोई दोष नहीं ! प्रकृतिका नियम ही ऐसा है कि, कूंजड़ेको बेरोंका और जौहरीको रत्नोंका ही स्वप्न आता है ! यदि हम किसी अपेक्षासे स्वामीजीके अर्थको ही ठीक माने तब भी जैनोंका कथन कोई अनुचित नहीं ! क्योंकि अन्य धर्मोंकी अपेक्षा अपने धर्मको उत्कृष्ट मानना अथवा बतलाना यह प्रत्येक धर्मकी रूढ़ी ही है ! इससे उचितानुचितका विचार किये विना ही कूंजड़ोंकी उपमा देनी केवल क्षुद्रता है ! स्वामीजी स्थान २ में वैदिक धर्मको ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ और मोक्षके देनेवाला बतलाते हैं, तो क्या उनको कूंजड़ा कहना चाहिए ? हम तो इस प्रकार कथन करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं । कदापि उनका कथन ही उनको इस महती उपाधिसे विभूषित करे तो हम विवश हैं !

सज्जनो ! जो मनुष्य अपने पाओंकी तर्फ देखकर नहीं चलता उसे अवश्य मूंहके बल गिरना पड़ता है ! दूसरोंके मजबूत मकानों पर पत्थर बरसानेवालेको प्रथम अपनी फूसकी झौंपड़ीका अवश्य ख्याल कर लेना चाहिए ! दूसरेकी एक आंख काणी करनेके लिए अपनी दोनो ही आंखें खो बैठनेवाला मनुष्य निस्सन्देह सोचने लायक है !

[ड]

स्वामी द० स०—

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताइं देइ मरणाइं ।
ता वर सप्पं गहिअं, मा कुगुरु सेवणं भद्द !

॥ ष० श० ३७ ॥

जैसे प्रथम लिख आये कि सर्पमें मणिका भी त्याग करना उचित है वैसे अन्य मार्गियोंमें श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषोंका भी त्याग कर देना अब उससे भी विशेषनिन्दा अन्य मतवालोंकी करते हैं. जैन मतसे विरुद्ध सब कुगुरु अर्थात् वे सर्पसे भी बुरे हैं उनका दर्शन सेवा संग कभी न करना चाहिये क्योंकि सर्पके संगसे एकवार मरण होता है और अन्यमार्गी कुगुरुओंके संगसे अनेकवार मरणमें गिरना पड़ता है इसलिये हे भद्र अन्यमार्गियोंके गुरुओंके पास भी मत खड़ा रह क्योंकि जो तूं अन्यमार्गियोंकी कुछ भी सेवा करेगा तो दुःखमें पड़ेगा (समीक्षक) देखिये जैनियोंके समान कठोर भ्रांत द्वेषी निन्दक भूला हुआ दूसरे मतवाले कोई भी न होंगे इन्होंने मनसे यह विचारा है कि हम अन्यकी निन्दा और अपनी प्रशंसा न करेंगे तो हमारी सेवा और प्रतिष्ठा न होगी इत्यादि [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४३१]

[ड]

समालोचक-सज्जनो ! "गुरोश्चालीकनिर्बन्धः, समानि ब्रह्महत्यया" किसी सुप्रतिष्ठित धर्मात्मा व्यक्तिपर झूठा इल्जाम लगाना ब्रह्महत्याके समान बड़ा भारी पाप है ! इस पापको धर्मशास्त्रकारोंने सामान्य मनुष्यको मार देनेसे भी किसी दर्जे अधिक बतलाया है ! स्वामीजीने बरायँ नाम जैन ग्रंथोंके कतिपय वाक्योंको सत्यार्थ प्रकाशमें उद्धृत करके उनके मनमाने अर्थ बतला कर जैनोंपर जो मिथ्या कलंक लगाए हैं, उनसे उपार्जन किए हुए पापसे उनकी आत्माको कितनी शांति प्राप्त हुई होगी यह हम नहीं कह सकते ! स्वामीजीने यहां जो कुछ लिखा है वह केवल द्वेष बुद्धिसे ही लिखा है, यह

तो आज हम कहते हैं; परंतु वह दिन भी बहुत ही नजदीक हैं जिसमें सारे विश्वके विद्वान् एकमत होकर मुक्त कंठसे इस बातको स्वीकार करने लगेंगे!

उक्त प्राकृत श्लोकद्वारा ग्रंथकार बड़ी ही योग्य शिक्षा देते हैं. वे कहते हैं कि,–

*" सांप और कुगुरु (जैन शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेवाला जैन वेषधारी दंभी स्वार्थी संसार वंचक साधु) में बहुत अंतर है! क्योंकि, सांप तो काटनेसे एक ही दफा मरण देता है, और कुगुरुके संसर्गसे तो अनेकवार जन्म मरणका अनुभव करना पड़ता है! इसलिए हे भद्र! सर्पको ग्रहण करना तो अच्छा है, परंतु कुगुरुकी सेवा करनी अच्छी नहीं है" इसका तात्पर्य यह है कि,–दंभी, स्वार्थी, साधुओंके वेषको कलंकित करनेवाले और अनेक प्रकारके अपकर्म करनेवाले नाम मात्रके साधुओंकी गुरु बुद्धिसे सेवा भक्ति करनेवाले पुरुषको लाभ के सिवा हानिकी ही संभावना है! इस प्रकारके संसार वंचक गुरुओंसे बुद्धिमान् पुरुषको अलग रहना ही श्रेष्ठ है!

हमने अपने पाठकोंको उक्त श्लोकका अर्थ और भाव दोनों ही सरल रीतिसे बतला दिए हैं. अब स्वामीजीका उक्त श्लोकके आधारपर जैनोंको कठोर भ्रांत द्वेषी निंदक और भूले हुए कहना कहां तक उचित है? इसका विचार वे स्वयं कर लेवें.

[८]

स्वामी दयानंद सरस्वती–

---

*" सर्पः एकवारमरणं भ्रष्टगुरुः बहूनि मरणानि ददाति सर्पेण गृहीतं वरं न पुनः कुगुरु सेवनं हे सरल!" इत्यवचूरिकारः॥

*संगोवि जाण अहिओ, तेसिं धम्मामइं जे पकुव्वंति ।
मुत्तूण चोरसंगं, करंति ते चोरिअं पावा ॥ ष० श० ७५ ॥

इसका मुख्य प्रयोजन इतना ही है कि जैसे मूढ जन चोरके संगसे नासिका छेदादि दंडसे भय नहीं करते वैसे जैनमतसे भिन्न चोर धर्मोंमें स्थित जन अपने अकल्याणसे भय नहीं करते ॥ ७५ ॥ (समीक्षक) जो जैसा मनुष्य होता है वह प्रायः अपने ही सदृश दूसरोंको समझता है क्या यह बात सत्य हो सकती है कि अन्य सब चोर मत और जैनका साहूकार मत है ! जब तक मनुष्यमें अति अज्ञान और कुसंगसे भ्रष्ट बुद्धि होती है तब तक दूसरोंके साथ अति ईर्ष्या द्वेषादि दुष्टता नहीं छोड़ता जैसा जैनमत पराया द्वेषी है वैसा अन्यमत कोई नहीं. [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४२३]

[ढ]

समालोचक–हम प्रथम ऊपर लिखी प्राकृत गाथाका अर्थ पाठकोंको बतला देते हैं जिससे स्वामीजीके किये हुए अर्थपर विचार करनेके लिए उनको किसी प्रकारकी कठिनता न पड़े ! षष्टि शतकके रचयिताके वक्त कितनेक ऐसे भी मनुष्य थे, जो कि, दंभी और कपटी गुरुओंका संसर्ग तो नहीं करते थे; परंतु उनके रचे हुए मायाजाल रूप धर्मका अनुष्ठान वे अवश्य करते थे ! उनकी इस शोचनीय दशाको देख कर उक्त ग्रंथकारने उक्त श्लोककी रचना की है. इसका सीधा भावार्थ यह है कि—+" जिन पाखंडी लोगोंके संसर्गसे भी

* सत्यार्थ प्रकाशमें यह श्लोक बहुत ही अस्त व्यस्त लिखा हुआ है, हमने यहां ठीक ठीक लिखा है. अन्यत्र भी सर्वत्र इसी तरह समझ लेना.

+ " येषां संसर्गोपि न क्रियते तेषां पुनरुपदिष्टं ये धर्मं कुर्वन्ति ते पापिनश्चौराणां संगं मुक्त्वा जाने स्वयं चौर्यं कुर्वन्ति " इत्यवचूरिकारः॥

हानि है उनके कथन किये हुए धर्म (वस्तुतः अधर्म) का जो मनुष्य अनुष्ठान करते हैं वे (विवेक शून्य) मानों चोरका संग करनेमें बुराई समझके उसको छोड़कर स्वयं चोरी करनेमें प्रवृत्त होते हैं! " अर्थात् चोरके संसर्गमें दोष समझ कर भी चोरीमें बुराई न समझनेवाला मनुष्य जैसे विचार शून्य समझा जाता है, वैसे ही कुमार्गगामी स्वार्थी लोगोंके कुत्सित उपदेशका अनुष्ठान करनेवालेको भी समझना चाहिए! इसके सिवा स्वामीजीने जैनमतसे भिन्न चोर धर्मोंमें इत्यादि जो कुछ लिखा है वह सब उनकी निजकी कल्पना है! ऊपर लिखे हुए प्राकृत श्लोकमेंसे किसी अक्षरका भी अर्थ नहीं! स्वामीजीका इस प्रकारसे लिखनेका आशय निस्सन्देह अन्य मतवालोंका जैनोंसे द्वेष बढ़ानेका ही प्रतीत होता है! परंतु इस द्वेषसे उन्हे क्या लाभ होगा? सो हम नहीं कह सकते.

सज्जनो! स्वामीजी महाराज कहते हैं कि, "जो जैसा मनुष्य होता है वह अपने ही सदृश दूसरोंको समझता है." परंतु हम तो इस कथनको सत्य माननेके लिए तैयार न होंगे! क्योंकि, स्वामीजी जैसे महापुरुषको कुम्हारका टट्टू, भडुआ, झूठा, दुकानदार, स्वार्थी, मूर्ख, अधर्मी, निर्दय, पापी, दुराचारी, द्वेषी, महानिन्दक, पामर वगैरह कहनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं! यदि हम उनका उक्त कथन सत्य प्रमाणित करें तब तो उनके विषयमें उक्त अपशब्दोंका प्रयोग करनेके लिए हमे अवश्य बाधित होना पड़ेगा! क्योंकि, स्वामीजीने अन्य धर्मगुरुओंके संबंधमें इन पूर्वोक्त शब्दोंका व्यवहार किया है! स्वामीजीके कथनानुसार स्वयं पापी हुए विना दूसरोंको पापी कहा नहीं जाता! या यूं कहिए कि, जो स्वयं पापी है वही दूसरोंको पापी कहता वा जानता है! ऐसा माननेसे स्वामीजी

और उनका मत संसारको अविद्यांधकारके सागरमें डुवानेवाले सिद्ध होते हैं। क्योंकि, वे जैन मतको ऐसा ही बतलाते हैं! इसलिए स्वामीजीके उक्त कथनको सत्य मानकर उनके सारे उपदेशको धूलमें मिलाना हम पसंद नहीं करते!

फिर जो इसके आगे ही स्वामीजी लिखते हैं कि, " जवतक मनुष्यकी अति अज्ञान और कुसंगसे वुद्धि भ्रष्ट होती है तवतक दूसरोंके साथ अति ईर्ष्या द्वेपादि दुष्टता नहीं छोड़ता जैसा जैन मत पराया द्वेपी है ऐसा अन्य कोई नहीं" ॥

स्वामीजीके इस कथनका स्पष्ट आशय यह है कि, जिस मनुष्यकी अज्ञान और कुसंग आदि दोषोंसे वुद्धि भ्रष्ट हो रही है वही दूसरोंको वुरा कहता है. अर्थात् दूसरोंसे ईर्षा द्वेष करना और उनको वुरा कहना इत्यादि दोषोंका कारण ही अज्ञान और कुसंग है! अथवा यूं समझिए कि, दूसरोंको वही मनुष्य वुरा बतलाता है कि, जिसकी वुद्धि अज्ञान और कुसंग प्रभृति दोषोंसे नष्ट भ्रष्ट हो गई हो! परंतु स्वामीजीके इस कथनको वही सत्य मान सकते हैं, जो कि, उनको (स्वा० को) नष्ट भ्रष्ट वुद्धिवाले कहनेमें कुछ भी संकोच न रखते हों! क्योंकि, स्वामीजीके लेखानुसार दूसरोंसे ईर्षा द्वेष या दूसरोंकी निन्दा वही मनुष्य कर सकता है कि, जिसकी अज्ञानता और कुसंगसे वुद्धि भ्रष्ट हो गई हो! स्वामीजी तो दूसरोंकी निन्दामें ग्रंथोंके ग्रंथ काले कर गए हैं! इसलिए अज्ञानता और कुसंग दोषसे उनकी वुद्धि नष्ट भ्रष्ट हो रही थी यह वलात् स्वीकार करना पड़ेगा! हम तो न स्वामीजीके उक्त कथनको सत्य ही मानते हैं, और न उनको नष्ट भ्रष्ट वुद्धिवाले ही कहते हैं! परंतु स्वामीजीके वचनको विधाताकी रेख माननेवाले कतिपय नवीन आर्य महाशयोंसे हमारी प्रार्थना है

कि, स्वामीजीके इस कथनको सत्य मानकर उनको भ्रष्ट बुद्धिवाले कहना उनको ठीक जचता है ? या उनके इस कथनको झूठा बतला कर उनको मिथ्याभाषी ठहराते हुए उनका अपमान करना वे अच्छा समझते हैं ?

[त]

स्वा० द० स०—

किं सोपि जणणिजाओ जाणो जणणी इकं अगो विंद्धि।
जइ मिच्छंर ओ जाओ गुणे सुत मच्छरं वहइ ॥ प० श० सू० ८१॥

जो जैनमत विरोधी मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्या धर्मवाले हैं वे क्यों जन्मे ? जो जन्मे तो बढ़े क्यों ? अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते तो अच्छा होता ॥८१॥ (समीक्षक) देखो ! इनके वीतराग भाषित दया धर्म दूसरे मतवालोंका जीवन भी नहीं चाहते केवल इनका दया धर्म कथन मात्र है इत्यादि [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४३४]

[त]

समालोचक—सज्जनो ! इस प्रकार संकुचित और हलकी शिक्षाका वर्णन जैन ग्रंथोंमें तो हमारे देखनेमें नहीं आया। हां ! स्वामीजीके ग्रंथोंमें तो है ! ! देखो [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३३०—" इन भागवतादिके बनाने हारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भहीमें नष्ट हो गये " इत्यादि] यहां पर तो स्वामीजीने " उलटा चोर कोटवालको डांटे " वाला हिसाब किया है ! क्योंकि, अन्य मतवालोंके जीवन तकको भी चाहते तो स्वयं नहीं, इसीलिए स्पष्ट लिख रहे हैं ! परंतु इस महा घृणित द्वेषमय उपदेशका इलजाम विचारे जैनों पर लगा रहे हैं ! परन्तु स्मरण रहें " जो कि ज़ालिम है वो हरगिज़ फूलता फलता नहीं ! सब्ज़ होते खेत भी देखा कहीं शमशेरका ? "

ऊपर हमने जो षष्टिशतकका श्लोक सत्यार्थ प्रकाशसे उद्धृत किया है उसका पाठ अधिकांश * अशुद्ध और अस्त व्यस्त्य है ! और उसके अर्थमें तो इतनी भी सत्यता नहीं है जितनी कि स्वामीजीमें भी थी ! इसलिए उक्त श्लोकके यथार्थ पाठ और अर्थको हम यहांपर लिखते हैं, जिससे स्वामी दयानंद सरस्वती और जैनोंके संबंधमें उक्त विषयकी छान वीनका समय पाठकोंको सुगमतासे मिल सके.

सज्जनो ! संसारमें इस प्रकारके मनुष्य भी बहुत हैं, जो कि, अपने कदाग्रहसे झूठको सत्य और सत्यको झूठ मानते तथा उपकार परायण सच्चारित्री प्रशस्तजीवी धार्मिक विद्वानोंसे प्रत्यक्ष द्वेष करते हैं ! ऐसे मनुष्योंके उपलक्ष्यमें उक्त ग्रंथकार लिखते हैं कि——

"किं सोवि जणणि जाओ, जाओ जणणीइ किं गओ वुड्ढिं ।
जइ मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं वहई ॥ ८१ ॥"

अर्थात् *मिथ्यात्वमें रक्त और सच्चारित्री विद्वानोंसे (अहेतुक) द्वेष करनेवाला मनुष्य क्या (प्रशस्त) मातासे जनित है ? यदि यह सत्य है तो उसकी वृद्धि क्यों हुई ? अर्थात् वह पुष्ट क्यों हुआ* । इसका खुलासा मतलब यह है—जो मनुष्य

---

* इसमें कोई नई बात नहीं है ! यही तो स्वामीजीकी प्राकृतानभिज्ञताका प्रमाण है ! ॥

* अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि, और अधर्ममें धर्मबुद्धिको जैनग्रंथोंमें मिथ्यात्व बतलाया है.

यथा——अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ [योगशास्त्रे]

* स नरो जनन्या किं जातः ? जातश्चेत्किं वृद्धिं गतः ? यदि मिथ्यारक्तः अथ च गुणेषु मत्सरं वहति, सत्यधर्मवन्तं द्वेष्टि । एतावता तस्य जन्मवृद्ध्यादिकं सर्वं निरर्थकमेवेत्यवचूरिकारः ॥

सत्यासत्यके विवेकसे शून्य और श्रेष्ठ पुरुषोंसे निष्कारण सदा विरोध रखनेवाले हैं ! उनके होनेसे संसारको किसी प्रकारका लाभ नहीं है ! या यूं कहिए कि, वे सृष्टिमें एक प्रकारके भार रूप ही है ! परंतु इस उपदेशसे जैनोंको स्वामीजी निर्दय किस कारणसे बतलाते हैं ? वह हम नहीं समझ सकते !

इसके अतिरिक्त स्वामीजीने उक्त ग्रंथके और भी कितनेक श्लोक सत्यार्थ प्रकाशमें उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है. परंतु उन सबपर विचार करना पीसेहुएको पीसने समान व्यर्थ है ! क्योंकि, वहांपर भी स्वामीजी सर्वथा उसी पद्धतिसे काम ले रहे हैं जिसके स्वरूपसे हमारे पाठक बखूबी परिचित हो चुके हैं, इसलिए उक्त ग्रंथकी समीक्षाके विचारको अब यहींपर समाप्त करते हुए हम पाठकोंका ध्यान अन्यत्र खैंचते हैं.

"विवेकसार और स्वामी दयानंद"

स्वामीजी महोदयने आगे चलकर विवेकसार नामके किसी एक भाषा ग्रंथके नामसे कितनीएक बातें उद्धृत करके जैनोंपर बहुत अनुचित आक्षेप किए हैं ! जैनोंपर आक्षेप करनेके विषयमें हमे कोई विवाद नहीं है. हमको तो उन आक्षेपोंकी असभ्यता और भ्रममूलकताके विषयमें कुछ विचार करना है.

हम अपने पाठकोंको इतना और भी बतला देते हैं कि, हम विवेकसारकी बातोंपर विवेकसारके आधारपर विचार नहीं करेंगे; किंतु जैन धर्मके सर्व मान्य ग्रंथोंमें उन बातोंका जिस प्रकार उल्लेख किया गया होगा उसके अनुसार विचार करेंगे.

स्वा० द० स०—

"अब इन जैनियोंके साधुओंकी लीला देखिये ।

(१) विवेकसार पृ. २२८ " एक जैन मतका साधु कोशा वेश्यासे भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग लोकको गया " ॥

(२) विवेकसार पृष्ठ १० " अर्णक मुनि चारित्रसे चुक कर कई वर्ष पर्यंत दत्त सेठके घरमें विषय भोग करके पश्चात् देव लोकको गया " " श्री कृष्णके पुत्र ढंढण मुनिको स्यालिया उठा ले गया पश्चात् देवता हुआ " ॥

(३) विवेक. पृ. १९६ " जैनमतका साधु लिंगधारी अर्थात् वेशधारी मात्र हो तो भी उसका सत्कार श्रावक लोग करें चाहे साधु शुद्ध चारित्री हों चाहे अशुद्ध चारित्री सब पूजनीय हैं " ॥

(४) विवेक. पृ. १६८ " जैनमतका साधु चारित्र हीन हो तो भी अन्यमतके साधुओंसे श्रेष्ट है " ॥

(५) विवेक. पृ. १७१ " श्रावक लोग जैन मतके साधुओंको चारित्र रहित भ्रष्टाचारी देखें तो भी उनकी सेवा करना चाहिये " ॥*

(६) विवेक. पृ. २५६ " एक चोरने पांच मुठी लोच कर चारित्र ग्रहण किया बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किये छठे महीनेमें केवल ज्ञान पाके सिद्ध हो गया" (समीक्षक) अब देखिये इनके साधु और गृहस्थों की लीला इनके मतमें बहुत कुकर्म करनेवाला साधु भी मोक्षको गया।

(७) विवेक. पृ. १०६ में लिखा है कि कृष्ण तीसरे नरकमें गया (समीक्षक) भला कोई बुद्धिमान पुरुष

---

* यह पाठ विवेकसारमें हमारे देखनेमें नहीं आया।

विचारे कि इनके साधु गृहस्थ और तीर्थंकर जिनमें बहुतसे वेश्यागामी परस्त्रीगामी चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मोक्षको गये और श्री कृष्णादि महा धार्मिक महात्मा सब नरकको गये यह कितनी बड़ी बुरी बात है ! प्रत्युत विचारके देखें तो अच्छे पुरुषको जैनियोंका संग करना वा उनको देखना भी बुरा है ! क्योंकि जो इनका संग करे तो ऐसी ही झूठी २ बातें उसके भी हृदयमें स्थित हो जायेंगी क्योंकि इन महा हठी दुराग्रही मनुष्योंके संगसे सिवाय बुराइयोंके अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। हां जैनियोंमें जो उत्तम जन हैं उनसे सत्संगादि करनेमें कुछ भी दोष नहीं [इसपर स्वामीजीने एक नीचे नोट दिया है]; जो उत्तम जन होगा वह इस असार जैन मतमें कभी न रहेगा] [सत्यार्थ प्रकाश पृष्ट ४४३–४४४]

(१)

समालोचक–स्वामीजी जैन साधुओंकी लीला दिखाते हुए कहते हैं कि–"एक जैन मतका साधु कोशा वेश्यासे भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग लोकको गया" भला इस कथनसे जैन साधुओंकी उन्होंने क्या लीला दिखाई ? "पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग लोकको गया" इसमें कौनसी लीला की बात है ? यदि कोई वेश्यालंपट मनुष्य वेश्या गमनको बुरा समझके त्याग दे, और सर्वथा निवृत्ति मार्गके अवलंबनसे अपने आत्माको सुधार ले तो क्या यह लीला है ? हां जैनशास्त्रानुसार साधुवेष धारण करनेके पश्चात् जो वेश्या

गमनादि कुकर्मोंमें प्रवृत्त है ऐसे दुराचारीको साधु अथवा स्वर्ग गया कहीं जैन शास्त्रोंमें लिखा हो तब तो लीला कहना ठीक हो सकता है ! परंतु ऐसा तो हमने जैनग्रंथोंमें कहीं लिखा हुआ नहीं देखा ! जैनग्रंथोंमें तो स्थान२ में यह उपदेश है कि-" वरमग्गिम्मि पवेसो, वरं विसुद्धेण कम्मेणा मरणं। मा गहियव्वयभंगो, माजीअं खलियसीलस्स ॥ " अर्थात् अग्निमें जल मरना अच्छा है ! अनशनादि व्रतसे शरीरको त्याग देना श्रेष्ट है ! परंतु ग्रहण किये हुए सन्यास-व्रतका त्याग और स्खलित शील (जिसने ब्रह्मचर्यरूप अमूल्य रत्नका नाश किया हो ऐसे) यतिका जीना अच्छा नहीं ! ॥

सज्जनो ! स्वामीजी महाराज जिसको एक जैनमतका साधु कह कर लिखते हैं उनका नाम " स्थूलिभद्र " है ! इनको जैनधर्ममें बड़ा ही उच्चस्थान प्राप्त हुआ है इसका कारण इनका आदर्शरूप जीवन है ! इनके संबंधमें जैनग्रंथोंमें बहुत कुछ वर्णन किया गया है ! इनके चरित्रका सांगोपांग वर्णन परिशिष्टपर्वमें श्री हेमचंद्राचार्यने किया है. इन ग्रंथोंको छोड़ कर इनके संबंधमें जो विवेक सारमें लिखा है उसीको यदि स्वामीजी सत्यार्थ प्रकाशमें उद्धृत कर देते तो उनकी बतलाई हुई जैनमतके साधुओंकी लीलाको समझनेके लिए किसीको भी कठिनता न पड़ती ! हम अपने पाठकोंको स्थूलिभद्र मुनिके चरित्रका कुछ अंश (जिसका स्वामीजीके कथनके साथ संबंध है) वर्णन करके सुनाते हैं. यह वर्णन भी हम विवेकसारसेही उद्धृत करते हैं. क्योंकि, जैन साधुओंकी लीला दिखलानेके लिए आपने इसी पुस्तकका नाम लिया है ! उक्त पुस्तककी भाषा यद्यपि बहुत पुराने ढंगकी है, एवं रद्दीसी है ! परंतु हम उसका परिवर्त्तन नहीं करते, क्योंकि, उसका ज्यूंका

स्यूं पाठ उद्धृत करनेसे स्वामीजीकी सत्यताका पाठकोंको अधिक परिचय मिलेगा !

विवेकसारके पृष्ठ २२७ में लिखा है कि–"राजाभियोग" राजाका हुकुम अर्थात् राजाकी आज्ञासे किसी काममें लगनेसे धर्मकार्य न होना, इससे धर्मकार्य न हो सके तो भी पाप नहीं लगता क्योंकि राजाज्ञा जबरदस्त है. " जैसे कोशा " पाटलीपुत्र नगरमें स्थूलभद्र मुनिके पास दिक्षा पाय (जैन शास्त्रके अनुसार जैन गृहस्थके धर्मको अंगीकार करनेके लिए प्रतिज्ञावद्ध होकर–लेखक) सम्यक्त्व मूलक द्वादश व्रत (जैन गृहस्थोचित कर्त्तव्य) पालनेवाली कोशा नाम वेश्या थी। उसको राजाने किसी धनुर्विद्या जाननेवालेको दे दिया, उस कोशाने इच्छा न रहेती भी (राजाकी आज्ञासे उसे) अंगीकार किया ! परंतु उस रथीके आगे (वह) सर्वदा स्थूलभद्र मुनिकी स्तुति किया करे (करती रहती थी–ले.) (एक दिन) वह रथी उसको रिझावनेके लिये बगीचामें जाय बंगलेकी खिड़कीमे उसके साथ बैठके एक बाण आमके झुमकामें वेधा (आम्रफलके गुच्छेमें मारा) दूसरा उस बाणमें वेधा तीसरा बाण उस बाणमें ऐसा (से) बाणमें बाण वेधतें (मारते) खिड़की तक बाणकी लड़ लगाय हात (थ) हीसे आम धींचके (खैंचके) तोडके उसको दे दिया। कोशाने भी कहा (अब) हमारी कला देखो (यह) कहके एक थालीमें सरसोंकी ढेरी लगाय उसके उपर फूलोंसे ढकी हुई सूई खड़ी कर दिया (दी) उसके ऊपर खूब तरहसे (उसने) नाच किया परंतु सूई पैरमे गड़ने न पाई और सरसोंकी ढेरी भी नही विखरी। यह देखके वह धनुर्धारी प्रसन्न होय बोला कि हम तेरे (री) चतुराईपर तुष्ट हैं

मांग क्या दें तुझको कोशा बोली *यह क्या हमने दुष्कर कर्म किया ? जिस्से (जिससे) तुम इतने खुश हुए, यह नाचना दुष्कर नहीं है, न बाणसे आम तोडना दुष्कर है, दुष्कर तो वह है जो कि स्थूलभद्र मुनिने किया. यह (इस) स्थूलभद्रने पहले बारह वर्ष हमारे साथ अनेक भोगभोगे पीछे दीक्षा पाय (सन्यास-व्रत ग्रहण कर) चारित्र पालते हुए हमारे इहां चतुर्मास वास किया हमने अनेक कामचेष्टा किया (की) तो भी उनके मनको कुछ भी विकार हुय नहीं गया (हमारी अनेक प्रकारकी कामचेष्टाओंसे भी स्थूलभद्रके मनमें किंचित विकार उत्पन्न नहीं हुआ) इतना

---

* सोवाच किं मयाकारि, दुष्करं येन रञ्जितः।
इदमप्यधिकं नाभ्यासात्, किमभ्यासेन दुष्करम् ? ॥ १७८ ॥
किञ्चाम्रलुम्बीच्छेदोयं, नृत्तं चेदं न दुष्करम्।
आशिक्षितंस्थूलभद्रो, यच्चक्रे तत्तु दुष्करम् ! ॥ १७९ ॥
अभुक्त द्वादशाब्दानि, भोगान्यत्र समं मया।
तत्रैव चित्रशालाया-मस्थात्सोखंडितव्रतः ! ॥ १८० ॥
दुग्धं नकुलसञ्चारा—दिव स्त्रीणां प्रचारतः।
योगिनां दुष्यते चेतः, स्थूलभद्रमुनिं विना ! ॥ १८१ ॥
दिनमेकमपि स्थातुं, कोऽलं स्त्रीसन्निधौ तथा।
चातुर्मासीं यथाऽतिष्ठत्, स्थूलभद्रोऽक्षतव्रतः ! ॥ १८२ ॥
आहारः षड्रसश्चित्र—शालावासोऽङ्गनान्तिके।
अप्येकं व्रत लोपाया—ऽन्यस्य लोहतनोरपि ! ॥ १८३ ॥
विलीयन्ते धातुमयाः, पार्श्वे वह्नेरिव स्त्रियाः।
सतु वज्रमयो मन्ये, स्थूलभद्रमहामुनिः ! ॥ १८४ ॥
स्थूलभद्रं महासत्त्वं, कृतदुष्करदुष्करम्।
व्यावर्णयुक्ता मुद्रैव, मुखे वर्णयितुं परम् ! ॥ १८५ ॥

[इत्यादि परिशिष्टपर्वणि]

सुनते ही (उस) रथीको प्रतिबोध हो गया शीघ्र ही गुरुके पास जाय दीक्षा ले (सन्यास व्रत धारण कर) चारित्र पालने लगा कोशा भी श्रावक (जैन गृहस्थ) का धर्म पालती हुई सद्गतिको प्राप्त हुई।"

अब पाठक विचार सकते हैं कि, इसमें कौनसी अनुचित बात है ? जिससे स्वामीजी जैन साधुओंकी लीला बतलाते हैं ! सज्जनो ! स्थूलभद्रके चरित्रमें जो कोशा वेश्याका सरसोंकी ढेरीपर नाचना लिखा है, इसको स्वामीजी बहुत गप्प मानते हैं ! आप लिखते हैं कि, "कोशा वेश्या चाहे उसका शरीर कितना ही हलका हो तो भी सरसोंकी ढेरीपर सूई खड़ी कर उसके ऊपर नाचना सूईका न छिदना और सरसोंका न बिखरना अतीव झूठ नहीं तो क्या है ?" परंतु हमारे पाठकोंमेंसे जिन्होंने फर्वरी सन् १९१२ की सरस्वती मासिक पत्रिकामें नर्त्तकाचार्य पंडित गिरधारीलालजी तिवारीजीकी * जीवनीको पढ़ा होगा उन्हें कहना पड़ेगा कि, उक्त काम

---

* इनकी (तिवारीजीकी) अन्यान्य जीवन संबंधी घटनाओंका वर्णन करते हुए नृत्यकलाके संबंधमें लिखा है कि—"(जयपुरमें) पंडितजीने होज़में भरे हुए पानीकी सतहपर कोई पांच मिनट तक नृत्य किया ! तब तो उन लोगोंके होश उड़ गए और पंडितजीकी बड़ी प्रशंसा हुई।......तलवारोंपर, आरोंकी धारोंपर, पहियेपर लगी हुई कीलोंकी नोकोंपर भी आप सुगमतापूर्वक नाचते हैं। फर्शपर और धारदार चीजोंके ऊपर नाचते समय आपका पैर बराबर एकसा रहता और गिरता है।......आप अपने शरीरका हलकापन दिखानेके लिये फर्शपर शकरके बताशे बिछवाकर उनपर नाचते हैं। उनपर आप खूब घूमते हैं खूब चलते हैं पर क्या मजाल जो एक भी बताशा फूट जाय। आप थालियोंकी उठी हुई दीवारोंपर भी नाचते हैं। थालियोंमें पानी भी उस समय आप भरालेते हैं।

कोई असंभव नहीं ! अभ्याससे सब कुछ साध्य हो सकता है ! यदि इस वक्त (उक्त नर्तकाचार्यजीके समयमें) स्वामीजी विद्यमान होते तो इन्हें अपनी भूल सुधारनेका अवश्य मौका मिलता !

[२]

अरणक (अर्हन्नक) मुनि और ढंढण कुमारकी बाबत स्वामीजीने जो कुछ लिखा है उसमें इतना भी सत्य नहीं जितनी कि उड़दके दानेपर सफेदी होती है ! अर्हन्नक मुनि विषयसेवन करता हुआ देवलोकको गया और ढंढण कुमारको स्यालिया (गीदड़) उठा ले गया इस प्रकारका उल्लेख हमने जैन ग्रंथोंके अतिरिक्त स्वामी महोदयके बताये हुए विवेकसारमें भी नहीं देखा ! इसलिए हमे कहना पड़ता है कि, स्वामीजी संसारको धोखेमें डाल रहे हैं ! मध्यस्थ पुरुष इस पर अवश्य ध्यान दें !!

[३-४-५]

हम प्रथम पाठकोंकी सेवामें निवेदन कर चुके हैं कि, विवेकसारमें कथन की हुई बातोंमेंसे हम उसी पर विचार

नाचते समय थालियां सरकती और घूमती भी हैं पर न तो उनका पानी ही छलकता है और न उनके घूमनेमें कुछ रुकावट ही होती है दो तीन थालियों पर आप खड़े हो जाते हैं ! इच्छा करने हीसे आप किसी भी थालीकी गति बदल सकते हैं। यदि एक पैरके नीचेकी दो थालियां एक तर्फको घूमती हैं तो दूसरेकी एक दूसरी तर्फको।... सरकसोंमें तारपर नाचनेवाले लोग छातेकी शरण लेकर अपने प्रयोग करते हैं पर पंडितजीको छाते वातेकी आवश्यकता नहीं रहती। आप विना छाते या किसी अन्य चीजकी सहायताके सुगमतापूर्वक तारपर भी नाचते हैं ” इत्यादि-[सरस्वती भाग १३ संख्या २] उक्त नर्त्तकाचार्यजी अभी विद्यमान हैं. ‘ लेखक ’ ॥

करेंगे, जिसका कि, उल्लेख किसी माननीय जैन ग्रंथमें हो! जैन ग्रंथोंमें चारित्र भ्रष्ट शिथिलाचारी साधुको गुरु अथवा उत्तम मानकर सेवा पूजा करनेका उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया, इसलिए जैन सिद्धांतके विरुद्ध विवेकसारके किए गए उल्लेखके उत्तर दाता जैन नहीं हो सकते! जैसे कि आज कलके संसार वंचक विषयानंदी कितनेक बावा लोग अपनेमें अंध संसारकी गुरु भावना स्थित रखनेके लिए अनेक प्रकारके वाग्जाल शास्त्रोंके नामसे रचते हैं, निस्संदेह सत्यार्थ प्रकाशमें उद्धृत किया हुआ विवेकसारका उक्त लेख भी इसी प्रकारका है! यह एक स्वाभाविक नियम है कि, संसारमें कमीनेसे कमीना मनुष्य भी अपनी प्रतिष्ठाके लिए, अनेक प्रकारकी युक्तिएं ढूंड निकालता है और वे कितनेक मूर्खोंपर कारामद भी हो जाती हैं! परंतु विचार प्रिय मनुष्योंके हृदयपर उनका अणुमात्र भी असर नहीं हो सकता.

विवेकसारके अंदर बहुतसी ऐसी बातें पाई जाति हैं, जो कि, जैन धर्मके मंतव्यसे सर्वथा विरुद्ध हैं। केवल स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए ही जैन ग्रंथोंके नामसे उनका उल्लेख किया गया है। आजकल ऐसे बहुतसे ग्रंथ देखनेमें आते हैं जिनमें स्वार्थि लोगोंने जैन धर्मके नामसे ही अपनी दुकान चलानेका प्रयत्न किया है! हाल ही में जैन धर्मके नामसे एक त्रिवर्णाचार नामका ग्रंथ प्रकाशित हुआ है उसके संबंधमें जैन हितैषी मासिकमें निकलनेवाली समालोचनाको जिन लोगोंने पढ़ा होगा वे समझ सकते हैं कि उसके लेखक महाशयने किस कदर धूलकी मुट्ठीसे सूर्यको ढांपनेका साहस किया है! ऐसी ही दशा विवेकसारकी है! उदाहरणके लिए अंक ३-४ का ही उक्त लेख ले लीजिए। जैन ग्रंथोंमें चारित्र भ्रष्ट साधु

को गुरु बुद्धिसे वंदना करनेका उल्लेख तो नहीं परन्तु निषेध तो किया है । यथा—उपदेशरत्नाकरे—

"चारित्रेण विहीनः, श्रुतवानपि नोपजीव्यते सद्भिः ।
शीतलजलपरिपूर्णः, कुलजैश्चाण्डालकूप इव ॥"

अर्थात् जैसे शीतल जलसे पूर्ण भी चंडालका कूप उत्तम पुरुषों करके सेवनीय नहीं; ऐसे ही चारित्रसे भ्रष्ट साधु यदि विद्वान् भी हो, तो भी वह श्रेष्ट पुरुषोंद्वारा पूजा (सत्कार) करने लायक नहीं है । तात्पर्य कि वह चंडालके कूपकी तरह उत्तम पुरुषोंको त्याग करने योग्य है । तथा—आवश्यकसूत्रनिर्युक्तिमें भी—

* "पासत्थाइ वंदमाणस्स, नेव कित्तिन निज्जरा होइ ।
कायकिलेसं एमेव, कुणइ तह कम्मबंधं च ॥"

अर्थात् पार्श्वस्थादि—शिथिलाचारी—यमनियमादिके अनु-

---

*व्याख्या—पार्श्वस्थादीनुक्तलक्षणान् वन्दमानस्य नमस्कुर्वतः नैव कीर्त्तिर्नैव निर्ज्जरा भवति, तत्र कीर्त्तनं कीर्त्तिरहोऽयं पुण्यभागित्येवंलक्षणा सा न भवति, अपित्वकीर्त्तिर्भवति, नूनमयमप्येवंस्वरूपो येनैषां वन्दनं करोति । तथा निर्ज्जरणं निर्ज्जरा कर्मक्षयलक्षणा सा न भवति, तीर्थकराज्ञाविराधनद्वारेण निर्गुणत्वात्तेषामिति । चीयते इति कायः देहः तस्य क्लेशः अवनामादिलक्षणः कायक्लेशस्तं कायक्लेशं एवमेव मुधैव करोति निर्वर्त्तयति । तथा क्रियते इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं तस्यबन्धः विशिष्टरचनया आत्मनि स्थापनं, तेन वा आत्मनो बन्धः स्वरूपतिरस्करणलक्षणः कर्मबन्धः तं कर्मबन्धं च करोतीतिवर्त्तते, चशब्दादाज्ञादींश्च दोषानवाप्नुते । कथम् ? भगवत्प्रतिक्रुष्टवन्दने आज्ञाभंगः, तं दृष्ट्वाऽन्येपि वन्दन्ते इत्यनवस्था, तान् वन्दमानान् दृष्ट्वाऽन्येषां मिथ्यात्वं, कायक्लेशतः देवताभ्यो वा आत्मविराधना, तद्वन्दनेन तत्कृतासंयमानुमोदनात् संयमविराधनेतिगाथार्थ इति । पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाः, एते पार्श्वस्थादयः (साधवः) अवन्दनीया जिनमते, इति च [बृहद्वृत्तौ श्रीहरिभद्रसूरिः]

ज्ञानसे रहित साधुओंको वंदना करनेवालेकी न तो संसारमें कीर्ति होती है और न कर्मोंकी निर्जरा होती है। प्रत्युत वह वंदनाद्वारा शरीरको कष्ट देता और कर्म बंधन करता है। इसलिए गाड़ी वाड़ी और लाड़ी के शायकीनोंको [चाहे वह कितनेभी पढ़े लिखे और मीठे २ व्याख्यानोद्वारा लोगोंको मुग्ध करनेवाले भी क्यों न हों] केवल वेषमात्रसे साधु तथा गुरु कहने, एवं पूज्य गुरुबुद्धिसे उनकी सेवा भक्ति करनेकी आज्ञा जैन शास्त्र तो नहीं देता। विवेकसारके रचयिता दें यह उनका अखत्यार है! हमारे ख्यालमें तो इसप्रकारके ग्रंथ जैन धर्ममें कलंक रूप हैं! इसलिए जैनोंको इस तर्फ अवश्य लक्ष्य देनेकी जरूरत है!

[६]

चोरका चोरीको त्याग कर तपश्चर्या करके सद्गतिको जाना कोई असंभव बात नहीं। तपकी महिमा अवर्णनीय है। इसमें वाल्मीक और मातंग जैसे महर्षियोंके इतिहास आबाल–गोपाल प्रसिद्ध हैं। महर्षि मनुजी (वस्तुतस्तु भृगुजी!) मनुस्मृति अध्याय दशमें लिखते हैं कि––

यद्दुस्तरं यद्दुरापं, यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३९॥
महापातकिनश्चैव, शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन, मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥२४०॥
कीटाश्चाहिपतंगाश्च, पशवश्च वयांसि च।
स्थावराणि च भूतानि, दिवं यान्ति तपोबलात् ॥२४॥

इन श्लोकोंका भावार्थ यह है कि जिस हेतुसे दुस्तर दुष्प्राप्य और दुष्कर कार्य भी तपके प्रभावसे सिद्ध हो सकते

हैं इसलिए तप ही दुरतिक्रम है। ब्रह्महत्यादि पाप और अनेक प्रकारके अकृत्य करनेवाले तपके सामर्थ्यसे उक्त पापसे मुक्त हो जाते हैं। तपके बलसे कीट सर्प पतंग पशु पक्षी और स्थावर प्राणी तक स्वर्गको चले जाते हैं।

सज्जनो! स्वामीजी जिस संप्रदायके संस्थापक हैं, वह तो, (तपकी बात तो दरकिनार) सिर्फ पावभर घी जलाकर पांच मिनिटमें ही अंत्यजोंको भी शर्मा वर्मा बना रही है! हम नहीं समझते कि, कर्म मात्रसे वर्ण व्यवस्था स्थापित करनेका झंडा लिये फिरनेवाले सरस्वतीजी महाराज उत्तम कर्मके अनुष्ठानसे होनेवाली चोरकी सद्गतिसे क्यों हिचकते हैं?

[७]

स्वामीजी कहते हैं कि, "अब देखिये इनके साधु और गृहस्थोंकी लीला इनके मतमें बहुतसे कुकर्म करनेवाला साधु भी मोक्षको गया और श्री कृष्ण नरकमें गया।"

सज्जनो! स्वामीजीका उक्त कथन सत्यसे बहुत गिरा हुआ है! जैन ग्रंथोंमें साधुको कुकर्म करनेका उपदेश तथा कुकर्म करनेसे कोई साधु मोक्षको गया ऐसा उल्लेख कहींपर नहीं। केवल द्वेषबुद्धिसे निंदनीय कर्मका किसीपर आरोप करना आप जैसे सन्यासीके लिए उचित नहीं था! जैन लोग कृष्णको तीसरे नरकमें गया मानते हैं यह बात सत्य है परंतु प्रतिदिन प्रतिक्रमण [संध्या] में दोनों वक्त उसको वंदना भी करते हैं यह भी सत्य है। क्योंकि इनके सिद्धांतानुसार कृष्णने आगेको अमम नामा बारवां तीर्थंकर होना है। इसके आगे स्वामीजीका "भला कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारेकि इनके साधु "गृहस्थ और तीर्थंकर जिनमें बहुतसे वेश्यागामी परस्त्रीगामी "चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मोक्षको गये और

"श्रीकृष्णं आदि धार्मिक महात्मा नरकको गये यह कितनी "बड़ी बुरी बात है" लिखना मध्यस्थ प्रजामें केवल द्वेषाग्नि भड़काना है ! स्वामीजीको उचित था कि वे प्रथम जैनग्रंथोंको देख लेते और फिर कृष्णका नाम लेकर संसारको भड़काते ।

सज्जनो ! जैन मतमें जिस कृष्णका उल्लेख है वह गीता के उपदेष्टा कृष्णसे भिन्न है । क्योंकि जैनमतमें माने हुए कृष्णको हुए आज ८६४४० वर्षसे कूछ अधिक समय हो चुका है । वह अरिष्ठनेमि नामके २२ वें तीर्थंकरके चचेरे भाई थे, ऐसा जैनोंका मानना है । और २२ वें तीर्थंकरका निर्वाणसमय जैनोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी-के निर्वाणसे ८४००० वर्ष पूर्व है और महावीर स्वामीके निर्वाणको आज २४४० मा वर्ष है । परंतु महाभारतमें उल्लि-खित कृष्णको हुए आज लगभग पांच सहस्र (५०००) वर्ष हुए हैं । जैन मतमें बारह चक्रवर्ती ९ बलदेव ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासु देवोंका इस अवसर्पिणीमें होना माना है, जिनमें कृष्ण नवमें वासुदेव हुए हैं । इसलिए संसारका अधिक भाग जिस कृष्णचंद्रको ईश्वरावतार मान रहा है, और स्वामी दयानंद और उनके भक्त जिस (अवतार) का घोर खंडन कर रहे हैं ! वे कृष्ण और जैनोंके माने हुए कृष्ण वासुदेवमें रात दिनका अंतर है ! स्वामीजीने कृष्ण भगवानका नाम लेकर जैनोंपर असभ्यता भरे शब्दोंसे जो आक्षेप किया है उसका मात्र हेतु, कृष्णके उपा-सकोंका जैनोंसे द्वेष बढ़ानेका है, ऐसा उनके लेखसे स्फुट प्रतीत होता है ।

[स्वामीजीने जैनमतकी समीक्षा करते हुए बहुधा एक ही आंखसे काम लिया है । शायद वे नेत्र हीन गुरुके शिष्य थे इसीलिए ! ! अन्यथा उनको जैनोंका कृष्ण

जीको प्रतिदिन वंदना करना और आगेको १२ वां तीर्थंकर होना मानना भी प्रकाशित कर देना उचित था! कदापि कोई कहे कि, स्वामीजी जैन ग्रंथोंसे वाकिफ नहीं थे इस लिए उन्होंने कृष्णजीके संबंधमें इतनी बड़ी भूल खाई है! तब तो उनके शिष्य समुदायको उचित है कि वह गुरुजीकी इस महती अशुद्धिको मार्जन करके उनको उक्त कलंकसे मुक्त करें!!!]

इसके अतिरिक्त स्वामीजीका जैन साधु और तीर्थंकरोंको वेश्यागामी परस्त्रीगामी और चोर आदि शब्दोंसे स्मरण करनेका क्या हेतु था? यह बुद्धिमान स्वयं विचार लेवें। एवं मतांतरीय विद्वान् और उनके लेखोंकी समीक्षा करते हुए स्वामीजीने जिन मधुर शब्दोंका व्यवहार किया है उनसे तो पाठक प्रथम अच्छी तरह परिचित हो चुके हैं। परंतु इस प्रकारके शब्दोंके प्रयोग करनेके कारणका अन्वेषण करते हुए हम जिस परिणामपर पहुंचे हैं उसका दिग्दर्शन करवा देना यहां कुछ आवश्यक प्रतीत होता है।

महर्षि कणादका कथन है कि, "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" अर्थात् कारणमें जैसे गुण होते हैं वैसे ही कार्यमें आते हैं। संसारमें यह बात आबाल प्रसिद्ध है कि, जैसा गुरु वैसा शिष्य अर्थात् गुरुके संस्कारोंका प्रभाव शिष्य पर अधिक पड़ता है! शिष्यको यदि गुरुके संबंधमें ग्रामोफोन की भी उपमा दी जावे तो हमारे विचारमें कुछ असंगत न होगी! हमारे पाठक इस बातसे तो प्रायः ज्ञात ही होंगे कि, स्वामी दयानंद सरस्वतीजीके गुरु कौन थे? कदापि किसी महानुभावको पता न भी होगा, इसलिए हम कह देते हैं कि, स्वामी दयानंदजीके गुरु थे, स्वामी विरजानंदजी दंडी अंधे! बस, अंधेका शिष्य यदि अंधा नहीं तो एक तर्फ देखनेवाला तो अवश्य होना चाहिए!

सज्जनो ! दंडी महोदय आंखोंसे ही अंधे नहीं थे, किंतु विचारसे भी। आपके पवित्र चारित्रको यदि किसीने एक वार भी अध्ययन किया होगा तो उसको स्वामी दयानंदजीका मतांतरीय विद्वानोंको गालिएँ तक देनेका हेतु बड़ी सरलतासे समझमें आसकेगा। क्योंकि गुरुके आचरणोंपर ही चेलोंकी सभ्यता निर्भर है! स्वामी दयानंद सरस्वतीजीके गुरु नेत्र हीन स्वामी विरजानंद दंडीजीका चरित्र कितना पवित्र था इसका एक उदाहरण हम पाठकोंकी सेवामें निवेदन करते हैं. "श्री महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वतीके गुरु श्री स्वामी विरजानंद सरस्वती दण्डीजीका जीवन चरित्र" नामकी पुस्तकके पृष्ट १९—२० में लिखा है कि—

"संवत् १९१७ के चैत्र मासमें एक सत्यके जिज्ञासु
" विद्यार्थी स्वामी दयानंद नामा उसके पास आ गये जिस
" तरह रेखा गणितसे अनभिज्ञ मनुष्य अफलातूनका शिष्य
" नहीं हो सकता था उसी प्रकार व्याकरणका न जानने-
" वाला विरजानंदका शिष्य नहीं हो सकता था। व्याकरण
" जाननेके कारण ही ऋषि विरजानंदने विद्यार्थी दयानंदको
" शिष्य बनाया। तत्पश्चात् कौमुदी आदि ग्रंथ जो उनके
" (दयानंदके) पास थे, यमुना नदीमें फिकवा दिये।
" और जब दयानंदजी यमुनामें निश्चय ग्रंथ वहाकर आ
" गये तो ऋषिने कहा कि अपनी बुद्धिसे भी इन ग्रंथोंके
" विचारको पृथक कर दो, तब अष्टाध्यायी पढ़ाऊंगा।
" दंडीने यह निश्चय कर लिया था कि भागवतादि पुराणों
" और सिद्धांत आदि अनार्ष ग्रंथोंने संसारमें अत्यंत मूर्खता
" और स्वार्थतत्परताका राज्य फैला रक्खा है। इसी कारण
" भ्रष्ट ग्रंथोंके कर्त्ताओंकीओरसे अपने विद्यार्थिओंको

" अत्यंत घृणा दिखाना चाहते थे। तथा च इस कार्यकी
" पूर्तिके लिये उन्होंने एक जूता रख छोड़ा था और सिद्धांत
" कौमुदीके कर्त्ता भट्टोजी दीक्षितकी मूर्त्तिको वे सब विद्या-
" र्थियोंसे जूते लगवाते थे। क्योंकि उनका कथन था कि
" इसी नचिने संस्कृत विद्याकी कुंजी अष्टाध्यायीके प्रचारको
" रोकनेके लिये यह बना रक्खा है। कभी भागवत पुराणकी
" पुस्तकको यह कहते हुए अपने पांव लगा देते थे कि इन
" पुराणोंने ही भ्रमजाल फैलाकर लोगोंको विद्या बुद्धि और
" पुरुषार्थसे हीन कर दिया है।"

सज्जनो! उक्त लेखका एक २ अक्षर ध्यानसे पढ़ने लायक है। स्वामी दयानंद सरस्वतीजीने संसारभरके धर्मों तथा आचार्योंका घोर अनादर करना कहांसे सीखा! इस बातको समझनेके लिए उक्त दंडीजीका चरित्र बड़ा ही जीवित उदाहरण है! दंडीजीका प्रशस्त जीवन मध्यस्थ संसारके लिए कितना आदरणीय होना चाहिए इस विषयमें हम स्वयं कुछ न कहते हुए, केवल "सरस्वती"के पुस्तक परीक्षा शीर्षक संपादकीय लेखको ही यहांपर अविकल रूपसे उद्धृत कर देते हैं।

" जीवन चरित-इस छोटीसी, २८ पृष्ठोंकी, पुस्तकमें स्वामी दयानंद सरस्वतीके गुरु स्वामी विरजानन्द सरस्वतीका चरित वर्णन है। चरित क्या स्वामीजीके संबंधकी कुछ बातोंका उल्लेख मात्र है। यह उल्लेख किस आधारपर किया गया है, यह पुस्तकमें नहीं लिखा। मूल पुस्तक उर्दूमें है। वह "धर्म वीर पं० लेखरामजी आर्य्य पथिक"की लिखी हुई है। उसीका यह हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार है—मुन्शी जगदम्बा प्रसाद। प्रकाशक, पण्डित शङ्करदत्त शर्म्मा, (शर्म्मा मैशीन प्रिंटिङ्ग प्रेस, मुरादाबाद)से यह एक आनेमें मिलती है।

आजकलके ऋषि और महर्षि कैसे होते हैं, यह जाननेकी इच्छा जिसे हो उसे यह पुस्तक अवश्य पढ़ लेना चाहिए। इसके कितने ही अंश पढ़कर हमें खेद हुआ और क्रोध भी आ गया। सुनते हैं, अन्धे आदमी प्रायः निःशील होते हैं। परंतु स्वामी विरजानन्द पण्डित थे। इससे उनके विषयमें कही गई कितनी ही बातोंपर आश्चर्य होता है। आश्चर्य क्या, उनपर विश्वास करनेको जी नहीं चाहता।

उदाहरण—

(१) "मनोरमा, शेखर, न्याय मुक्तावली, सारस्वत, चन्द्रिका पञ्चदशी आदि नवीन बनावटी ज्योतियोंके तुच्छ प्रकाशको अष्टाध्यायी आदि ऋषि–मुनि–कृत सूर्यग्रन्थोंके सामने (स्वामी विरजानन्द) बिलकुल व्यर्थ समझने लगे।" [पृष्ट १६]

(२) " अष्टाध्यायी, महाभाष्य, व्याकरणके मुख्य ग्रन्थ हैं तथा कौमुदी, मनोरमा आदि ग्रंथ मनुष्यकृत और अशुद्ध हैं। तथा न्याय मुक्तावली आदि और भागवतादि पुराण, रघुवंश आदि काव्य, वेदान्तमें पञ्चदशी और नवीन सम्प्रदायी जितने ग्रंथ हैं सब अशुद्ध हैं"। [पृष्ठ १८]

मालूम नहीं, इस चरितके लेखक लेखराम संस्कृत भाषाके कितने बड़े विद्वान् और व्याकरण, न्याय, वेदान्त, काव्य, पुराण आदिके कितने बड़े ज्ञाता थे। उनके पूर्वोक्त अवतरणोंसे तो सूचित होता है कि संस्कृत भाषा और संस्कृत शास्त्रोंसे उनका कुछ भी संपर्क न था और रहा भी होगा तो बहुत कम। जो कुछ नवीन है सभी अशुद्ध हैं, यह कहांका न्याय है। पञ्चदशी अशुद्ध! न्याय मुक्तावली अशुद्ध! रघुवंश अशुद्ध! अरे भाई, कभी पढ़ा भी इनको? यदि अशुद्ध हैं तो साद्यन्त सभी अशुद्ध हैं या इनके कुछ ही अंश अशुद्ध हैं? जबानमें लगाम ही नहीं! यदि किसी ग्रंथका अशुद्ध होना "नवीन सम्प्रदायी" होनेपर

हीं अवलम्बित हो तो स्वामी दयानन्द सरस्वतीके बनाये ग्रन्थ भी अशुद्ध हैं, क्योंकि वे भी नये हैं और सम्प्रदायिक भावसे ख़ाली नहीं। न्याय मुक्तावली और पञ्चदशी आदि तो बनावटी ज्योतियाँ हैं और आपकी ऋग्वेद भाष्य भूमिका और सत्यार्थ प्रकाश ? वे तो शायद सृष्टिके आरम्भमें आप ही आप उत्पन्न हुए ज्वालामाली सूर्य हैं ! स्वामी विरजानन्दने इस तरहकी बातें यदि कही भी हों, तो भी लेखकको समझबूझ कर शब्द प्रयोग करना था। प्रतिष्ठित जनोंके मुखसे ऐसी बातें निकलना अच्छा नहीं होता। ऋषियों और मुनियोंको ही शुद्धताका ठेका परमेश्वरके यहांसे नहीं मिला। मनुष्य भी शुद्धाचारी और शुद्ध लेखक हो सकते हैं। विक्षिप्तकी तरह बर्रानेसे ऋषियों और महर्षियोंका भी आदर नहीं होता और विचारपूर्वक बात कहनेसे मनुष्य भी श्रद्धाभाजन हो सकता है।

एक और अवतरण सुन लीजिए:—

"दण्डी विरजानन्दने यह निश्चय कर लिया था कि भागवतादि पुराणों और सिद्धान्त आदि अनार्ष ग्रन्थोंने संसारमें अत्यन्त मूर्खता और स्वार्थपरताका राज्य फैला रखा है। इसी कारण वे इन भ्रष्ट ग्रंन्थोंके कर्त्ताओंकी ओरसे अपने विद्यार्थिओंको अत्यन्त घृणा दिलाना चाहते थे। तथा च इस कार्यकी पूर्त्तिके लिए उन्होंने एक जूतां रख छोड़ा था और सिद्धान्त कौमुदीके कर्त्ता भट्टोजी दीक्षितकी मूर्त्तिको वे सब विद्यार्थिओंसे जूते लगवाते थे" [पृष्ठ २०]

छि० छि० ! कहां तो सन्यास—व्रत और कहां ऐसा जघन्य काम ! जिस कौमुदीकी बदौलत ही इस जूते बाज़ स्वामीको अष्टाध्यायी पढ़नेकी अक्ल आई उसीके कर्त्ताका इतना अपमान ! कृतघ्नता की हद हो गई ! विवेककी इति श्री हो गई ! ऐसे ही ऐसे ऋषि—जनोचित कार्योंके उपलक्ष्यमें आर्य्य समाजके अनुयायियोंने इस नेत्र हीन वैयाकरणको भी ऋषिकी पदवी

दे डाली है। सिद्धान्त कौमुदीका आदर करनेवालोंको अब इस बातपर विचार करना चाहिए कि यदि कोई वैयाकरण हररोज़ सुबह उठकर विरजानन्दकी मूर्तिपर गिनकर पचास दफे उसी तरहके सम्मान पुष्प चढ़ावे तो उसे भी ऋषिकी पदवी मिलनी चाहिए या नहीं?

आर्य्यसमाजके नायकोंको मुनासिब है कि वे दूसरोंका आदर करना सीखें और इस रूपमें इस पुस्तकका प्रचार रोकदें। आर्य्य समाजियोंके गुरुके गुरुकी इस लीलाके विज्ञापन से हानिके सिवा लाभ नहीं। जिस "धर्म्म वीर" ने इस लीलाकी झांकी दिखाई है उसकी वीर और धार्म्मिक आत्माको भगवान् सद्गति दे!" [स० भा १९ खं २ संख्या ३]*

* नोट—बहुधा लोगोंका मत है कि वर्त्तमान आर्य समाजके शिक्षित विभागमें विचार संकीर्णता और अंध श्रद्धालुता अन्य सांप्रदायिक पुरुषोंकी अपेक्षा कुछ कम है। हम भी इस विचारमें अधिकांश सहमत थे, परंतु विशेष परामर्शसे हमारा उक्त विचार भ्रममूलक ही निकला। मतांधता और व्यक्तिगत रागांधताने वर्त्तमान आर्यदलके शिक्षित विभागको भी अशिक्षितोंकी तरह अपना दास बनाये बिना नहीं छोड़ा! कितनेक सामयिक संयोगोंसे यह बात स्पष्ट जान पड़ती है। उदाहरणके लिए उक्त संपादकीय समालोचना ही ले लीजिए। हमें खेद है कि, उक्त निष्पक्ष समालोचनाको देखकर भी वर्त्तमान आर्यदलके नायकोंके क्रोधकी मात्रा इतनी बढ़ गई कि, अनेक समाजी पत्रोंमें कोलाहल मचानेके सिवा कितनेकि बाल और वृद्ध सभाओंने उक्त आलोचनाके विषयमें कई एक प्रस्ताव भी पास कर डाले! जिनमेंसे मध्यप्रांत बुलन्द शहरकी आर्य प्रतिनिधि सभाके पास किये हुए एक प्रस्तावको पाठकोंके अवलोकनार्थ हम यहां पर भी उद्धृत कर देते हैं।

" आर्य ग्रंथकारोंसे सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी

" पुस्तकोंको सरस्वती संपादक पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदीके

सज्जनो ! सिद्धांत प्रभृति सद्ग्रंथोंको यमुना नदीमें बहाने और भट्टोजी दीक्षित जैसे असीम उपकारी आचार्योंको नीच कहकर उनकी पूजनीय प्रतिमाका जूतोंसे निरादर करनेवाले अंधे गुरुके चेले, स्वामी दयानंद सरस्वतीजी, जैनाचार्योंको यदि वेश्यागामी बतलावे तो कुछ आश्चर्य नहीं ! क्योंकि, " आकके पेड़से कभी आम नहीं टपका करते " ! ! !

" पास समालोचनार्थ कदापि न भेजा करें। पक्षपातके बिना
" न्यायपूर्वक पुस्तकके गुण दोष वर्णन करना प्रत्येक समालोच-
" कका प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये। परंतु खेद है कि द्विवेदीजी
" इस बातको कभी कभी बिलकुल भूल जाते हैं। आर्य
" समाजके ऊपर तो उनके क्रोधकी मात्रा दिन प्रतिदिन
" बढ़ती जाती है। अभी हालमें आपने एक पुस्तककी
" समालोचना करते हुए श्री स्वामी दयानंदजी सरस्वतीके गुरु
" महर्षि विरजानन्दजी प्रज्ञाचक्षुके ऊपर गंदे शब्दोंकी बौछाड़
" करके अपनी महावीरताका प्रचण्ड परिचय दे डाला है।
" ऐसी दशामें हमारी सम्मति है कि कोई आर्यग्रंथकार
" अपनी पुस्तकोंको वहां न भेजें। "

आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त बुलन्द शहर
६-१०-१४.

विनीत—
मदनमोहन सेठ
M. A. L. L. B.
मंत्री सभा.

सज्जनो ! मेघपटलाच्छन्न सूर्यकी तरह व्यक्तिगत रागांधकारसे; कर्त्तव्य पथ प्रदर्शक ज्ञानशक्तिके लुप्त हो जानेपर, मनुष्य किस मार्गका अवलंबन करता है ? और अंधश्रद्धा, गुणदोषके विचारसे उसे किस तरह वंचित रखती है ? उक्त प्रस्तावके पढ़नेसे यह बखूबी समझमे आ सकता है। अस्तु ! जिन महानुभावोंने यह प्रस्ताव प्रकाशित किया है उनको उनकी अनन्य गुरु भक्तिके उपलक्षमें जितना धन्यवाद दिया जाय उतना ही कम है ! !

अब हम स्वामीजीके दूसरे कथनपर कुछ विचार करते हैं। स्वामीजी फर्माते हैं कि विचारकर देखें तो अच्छे पुरुषको जैनियोंका संग करना वा उनको देखना भी बुरा है क्योंकि इन महा हठी दुराग्रही मनुष्योंके संगसे सिवाय बुराइयोंके अन्य कुछ भी पल्ले न पडेगा"

सज्जनो! स्वामीजी, जैनोंका संग तो दूर किनार, दर्शन तकमें भी बुराई बतलाते हैं। इसका कारण उनके कथनानुसार जैनोंका हठ और दुराग्रह है! परंतु जैनोंके दर्शन तकमें भी पाप कहना यह निष्पक्ष भावसे है या दुराग्रहसे? यह भी विचारणीय है। जैनोंके संग और दर्शनसे अन्य मनुष्योंके सिवा स्वामीजीमें कितनी बुराई आई होगी इस बातका अनुभव उन्होंने ही किया होगा। परंतु शोक है कि, स्वामीजी जल्दी ही कूच कर गये!! यदि वे कुछ काल और जीते रहते तो संभव था कि, जिस प्रकार उन्होंने अपने (माने हुए) अन्य कितनेक सिद्धांतोंको (उनकी बुद्धिके अनुसार असंगत होनेके कारण) उथला पुथला दिया। इसी प्रकार उनकी, जैन तथा इतर धर्माचार्योंको हठी दुराग्रही और झूठे दुकानदार आदि, बीभत्स शब्द कहनेकी बुरी आदत भी बदल जाती! और जिस द्वेष और दुराग्रहसे उन्होंने जैनोंके दर्शनमें भी पाप बतलाया है शायद वह जड़ मूलसे ही उखड जाता!!! क्योंकि भ्रमयुक्त मनुष्य कितनीक अस्त व्यस्त बातें भी कह डालता है। भ्रमके दूर हो जानेपर उन्हें दोषरूप समझकर वह त्याग भी देता है। इसी प्रकार स्वामी दयानंदजीके संबंधमें समझना चाहिए। परंतु स्वामी दयानंद सरस्वतीजी सर्वथा निर्भ्रान्त थे, उनमें अंधेरा नाम मात्रको भी नहीं था, इस प्रकारके अंध श्रद्धालुओंके विषयमें हम कुछ नहीं कह सकते!

क्योंकि श्रावण भाद्रपदके महीनेमें नेत्र हीन हुआ मनुष्य सर्वत्र हरा ही हरा देखता है ! उसका यह दोष स्वभावकी तरह अनिवार्य है !! निष्पक्ष जनताके हृदयमें इस प्रकारके संकीर्ण विचारोंको स्थान नहीं मिलता यह खुशीकी बात है। पाठकोंको इस वातका स्मरण रहे कि हमारे इस कथनमें अन्यान्य विद्वानोंके अतिरिक्त कितनेक निष्पक्ष आर्यसमाजी विद्वान् भी पूर्ण सहानुभूति धराते हैं। उदाहरणके लिए " महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम " नामी किताबमें हमारे भारत प्रेमी श्रीयुत लाला लाजपतरायजी लिखते हैं—

"हमको भलीभांति विदित है, कि स्वामी "दयानंद सरस्वतीने अपने जीवनमें कइ वेर "अपनी सम्मतियें पलटी। एक समय था कि "वह शिवमतको प्रतिपादन करते थे, और "रुद्राक्ष और कंठीमाला धारते थे। फिर एक "समय आया कि उसका खंडन करने लगे। "एक समय था कि वह (देखो चांदापुरका "वाद) मोक्षकी अवधि नहीं मानते थे। और "उनको निश्चय था कि मुक्त हुई आत्मा फिर "देह धारण नहीं करती। फिर वह समय "आया कि उन्होंने अपनी सम्मति पलट दी "आदि आदि। किसको विदित है कि यदि "वह जीते रहते तो अपने जीवनमें और क्या

"क्या सम्मतियें पलटते। जितनी आयु बढ़-
"ती थी उतनी ही विद्या और ज्ञान उनका
"अधिक होता जाता था, उतना ही प्रत्यय
"प्रकाश उनपर डालता जाता था। ऐसी
"अवस्थामें कौन कह सकता है कि स्वामीजी
"निर्भ्रान्त थे। जो महाशय उनको निर्भ्रान्त
"मानते हैं वह कृपाकर उस समय को भी
"प्रकट करें जब कि वह निर्भ्रान्त हुए।"

[पृष्ठ १४२]

अस्तु! अब स्वामीजीकी एक और बातपर पाठक ध्यान दें। स्वामीजी "हां जैनियोंमें जो उत्तम पुरुष हैं उनका संग करनेमें कुछ दोष नहीं" लिखते हुए जो नोटमें लिखते हैं कि "जो उत्तम पुरुष होगा वह इस असार जैनमतमें कभी न रहेगा" इसकी संगति हमारे ख्यालमें नहीं आती। क्योंकि स्वामीजीके कथन मुताबिक जैनोंमें उत्तम पुरुष तो रह ही नहीं सकता, जो रहे वह उत्तम नहीं अर्थात् अधम है! तो फिर जैनोंमें वह उत्तम पुरुष आयगा कहांसे? जिसके संग करनेमें स्वामीजी दोष नहीं बतलाते! यदि नोटके कथनको सच्चा माना जाय तब तो उनका ऊपरका कथन झूठा ठहरता है और यदि ऊपरका कथन ही सत्य माना जाय तब नोटका उल्लेख मिथ्या सिद्ध होता है! इसलिए उक्त दोनों लेखोंमेंसे स्वामीजीके किस लेखको सत्य और किसको झूठा ठहराना? इसकी सप्रमाण मीमांसा यदि कोई समाजी महाशय ही कर-

नेका प्रयत्न करें तबतो मध्यस्थ प्रजाको बहुत लाभ हो। परंतु एक तर्फ तो " जैनोंमें जो उत्तम पुरुष हैं " कथन करना और दूसरी तर्फ " जो उत्तम पुरुष हैं वह जैनोंमें रह ही नहीं सकता " कहना। इस वदतो व्याघातके दोलतेसे स्वामीजीकी क्या दशा हुई और वर्त्तमान आर्य समाजने उसकी क्या चिकित्सा की ? यह हम नहीं कह सकते।

क्या जैनोंमें कोई उत्तम पुरुष नहीं ? सब अधम ही अधम हैं ? स्वामीजीके दलके तो सब उत्तम ! और जैनसमाजके सब अधम ! कितने इन्साफकी बात हैं ? जबानको थोड़ीसी भी लगामकी जरूरत नहीं रखी ? धन्य है आर्यसमाजके कलियुगी महर्षि ! अब विचारशील पुरुषोंसे हमारा निवेदन है कि, स्वामी दयानंद सरस्वतीजीकी तरह यदि कोई जैनसमाजका नेता वर्त्तमान आर्यदलको अधम बतलावे तो उसको भी जैनसमाजकी तर्फसे (वर्त्तमान आर्यसमाजकी तरह) महर्षिकी पदवी मिलनी चाहिए याकि नहीं ?

इसके अतिरिक्त भी स्वामीजीने विवेकसार—तत्वविवेक—रत्नसार प्रभृति भाषाके क्षुद्र क्षुद्र ग्रंथोंके ही कितनेक वाक्य उद्धृत करके जैनोंपर मनमाने आक्षेप किए हैं, परंतु उनको उचित था कि, वे जैनधर्मके सर्वमान्य सिद्धान्त ग्रंथोंके वाक्योंको उद्धृत करके उनकी समीक्षा करते ! हमे विवश होकर कहना पड़ता है कि, जैनधर्मके खंडन करनेमें सत्यार्थ—प्रकाशका लगभग दोसौ पृष्ठ काला किया है परंतु उसमें रत्नसार विवेकसार आदिके सिवा जैनधर्मके किसी भी आगमका वाक्य तक भी उद्धृत नहीं किया ! सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकाके अंदर स्वामीजीने जैनोंके माननीय जितने ग्रंथोंका उल्लेख किया है उनमेंसे एकका भी वाक्य बारवें समुलासमें देखनेमें नहीं आता ! हम

नहीं समझा कि, जैनोंके सर्वमान्य संस्कृत और प्राकृतके अनेक ग्रंथोंको छोड़कर विवेकसार जैसे रद्दी पुस्तकोंके नामसे इतना अरण्य रोदन स्वामीजीने क्यों किया? कदापि उन्होंने वेदोंमेंसे रेल-तार निकालनेकी तरह यह लीला भी अपने भक्तोंको रिझानेके लिए ही की हो तो हम कह नहीं सकते! इसलिए स्वामीजीके विवेक और सारकी समीक्षाको हम पाठकोंके ही स्वाधीन करते हैं। कृपया वे ही इसमेंसे सार निकालनेका प्रयत्न करें। स्वामीजीने तो संसार पर बहुत उपकार किया है! वर्त्तमान आर्यदल उनसे अनृणी हो सके ऐसी आशा नहीं! क्योंकि उन्होंने चिरकाल तक जैन ग्रंथोंका अभ्यास करके उनको हठी दुराग्रही और मूर्खोंके बनाए हुए साबित कर दिखाया! इस उपलक्षमें कितनेक समाजी महाशय यदि फूले न समायें तो कुछ आश्चर्य नहीं। परंतु स्वामीजीके इस मयूर नाटकका मध्यस्थ संसार पर कितना प्रभाव पड़ा है? वह हम नहीं कह सकते।

" दिगंबर-श्वेतांबर और स्वामी दयानंद "

स्वामी दयानंद सरस्वतीजीने, जैनधर्मकी दिगंबर और श्वेतांबर इन दो मुख्य शाखाओंका परस्पर स्थूल अंतर कितना है, यह बतलानेके लिए जैन मुनि श्री जिनदत्त सूरि रचित "विवेक विलास" मेसे तीन श्लोक सत्यार्थ-प्रकाशमें उद्धृत किये हैं। उनमेसे तीसरा श्लोक और उसकी स्वामीजीकृत व्याख्याके पाठको हम पाठकोंके अवलोकनार्थ यहां पर उद्धृत करतेहैं।

न भुंक्ते केवलं न स्त्री, मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो, महान् श्वेताम्बरैः सह। ३।

भा.—दिगंबरोंका श्वेताम्बरोंके साथ इतना ही भेद है कि, दिगंबर लोग स्त्री संसर्ग नहीं करते और श्वेतांबर करते

हैं इत्यादि बातोंसे मोक्षको प्राप्त होते हैं यह ... हो। ...ओंका भेद है। [पृष्ट १७७] कथन

समालोचक—हाय ! हाय ! कितना अन्धेर ! ... में रह ... कहां तो जैन मतके खंडनका अभिमान ... उसके स्थूलसे स्थूल सिद्धान्तोंके समझनेमें भी इतना अज्ञान ... साहसकी हद हो गई ! विज्ञानकी समाप्ति हो गई !

पाठक महोदय ! स्वामीजी बड़े ही प्रौढ वैयाकरण थे क्योंकि उन्होंने सिद्धान्त कौमुदी आदि ग्रंथोंको यमुना नदीमें फेंककर एक नेत्र हीन वैयाकरणसे अष्टाध्यायी और महा भाष्य पढ़ा था। इसलिए बुद्धिमानोंको उनके प्रशस्त वैयाकरण होनेमें अणुमात्र भी संदेह नहीं ! हमको तो स्वामीजीके व्याकरण संबंधि अप्रमेय ज्ञानका वर्तमान आर्यसमाजसे भी अधिक अभिमान न है ! परंतु स्वामीजीने उक्त श्लोकका जो अर्थ लिखा है वह यदि ऐसे विद्वान्के देखनेमें आवे जो कि स्वामीजीके चरितसे अनभिज्ञ हो तो संभव नहीं कि वह स्वामीजीकी शब्दशास्त्र सम्बन्धी योग्यताकी कदर किए विना रह सके ! वह यदि साथमें जैन सिद्धांतका भी कुच्छ ज्ञाता हो तब तो स्वामीजीकी जैनशास्त्रिय विज्ञताकी भी प्रशंसा किन शब्दोंसे करे इसका निश्चय करना हमारे लिए तो अशक्य है।

हां ! इतना तो हम अवश्य कह सकते हैं कि उक्त श्लोकका अर्थ करके साक्षर वर्गमें स्वामीजीने जो शास्त्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसके उपलक्षमें वर्तमान आर्यसमाज उन्हें यदि महर्षिसे भी आगे बढ़ा देता, एवं एक “ दयानंद दिग्विजय की जगह यदि दस वीस पचास भी दिग्विजय बना दिये जा...

। क्या ही अच्छा होता जो उक्त श्लोकका अर्थ
नहीं समझके प्रथम किसी योग्य जैन विद्वान्से समझ लेते। परंतु
अनेक ग्रंथों करनेसे शायद उनकी महती प्रतिष्ठाको कोई धक्का
इतना अर ! अस्तु अब हम उक्त श्लोकका यथार्थ पाठ और
वेदोंमेंसे रेख क ठीक अर्थ पाठकोंको बतलाते हैं !

" न भुंक्ते केवली न स्त्री, मोक्षमेति दिगंबराः।
प्राहुरेषामयं भेदो, महान् श्वेताम्बरैः सह "

भा०–(केवली न भुंक्ते) केवली–तत्वज्ञानी भोजन नहीं करता, और (स्त्री मोक्षं न एति) स्त्री मोक्षको प्राप्त नहीं होती, ऐसे (दिगंबराः प्राहुः) दिगंबर लोग कहते हैं (श्वेतांबरैः सह) श्वेताम्बरोंके साथ (एषां) इनका–दिगंबरोंका (अयं) यह (महान् भेदः) बड़ा भेद है. अर्थात् जैन धर्मकी श्वेताम्बर और दिगंबर इन दो शाखाओंमें बड़ा भारी अंतर इतना ही है कि; श्वेतांबर लोग तत्वज्ञानीका भोजन करना और चारित्र (सन्यासव्रत)के पालनेसे कर्म क्षय द्वारा स्त्रीका मुक्त होना मानते हैं, और दिगंबर लोग उक्त दोनो बातें स्वीकार नहीं करते।

पाठकोंको यहांपर इतना और भी स्मरण रहे कि उक्त श्लोकमें केवली के स्थानमें जो स्वामीजीने केवलं लिख मारा है वह सर्वथा जैन सिद्धान्तसे विरुद्ध और अशुद्ध है! कदापि, केवलं पाठ ही स्वीकार किया जावे तो भी स्वामीजीने " दिगंबर लोग स्त्रीका संसर्ग नहीं करते " " श्वेतांबर करते हैं " " इत्यादि बातोंसे मोक्षको प्राप्त होते हैं " यह किन अक्षरोंका अर्थ किया सो तो स्वामीजी जानें, या गुरुकुलके नये कणाद, पतंजलि, या, गौतम व्यास! क्योंकि, स्वामीजीके वेद भाष्योंकी शेषपूर्ति अब उन्हीपर अवलंबित है!

"शंकर स्वामीकी मृत्यु और स्वामीदयानन्द"

स्वामीदयानन्दसरस्वतीजी महाराजने, जैनोंके विषय में अन्यान्य बातोंका उल्लेख करनेके सिवा एक और बड़ी विचित्र बात लिखि है ! बात क्या है ? जैनोंपर मिथ्या आरोप दिया गया है ! आप लिखते हैं—["जब वेदमतका स्थापन हो चुका और विद्या प्रचार करनेका विचार करते ही थे इतने में दो जैन ऊपरसे कथन मात्र वेदमत और भीतरसे कट्टर जैन अर्थात् कपट मुनि थे । शंकराचार्य्य उनपर अति प्रसन्न थे उनदोनोंने अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनकी क्षुधा मंद हो गई पश्चात फोड़े फुन्सी होकर छः महीने के भीतर ही शरीर छूट गया "] [सत्या. प्र. पृ. २७८]

समालोचक—स्वामीजी, भगवान् शंकराचार्यकी मृत्युका कारण जैनोंको बतलाते हैं । उनका कथन है कि जैनोंने विष देकर शंकराचार्यको मार डाला ! मगर इस कथनकी सत्यताके लिए उन्होंने किसी प्रमाणका उल्लेख नहीं किया ! एवं स्वामी शंकराचार्यजीके जितने जीवनचरित आजतक उपलब्ध हुए हैं उनमेंभी उक्त वर्णन नहीं है और नाही ऐसा कोई ऐतिहासिक ग्रंथ हमारे देखनेमें आया है कि जिसमें शंकरस्वामीकी मृत्युका कारण जैनोंको बतलाया हो !

हमे आश्चर्य है कि, संसारभरके विद्वानोंमें आजतक जो बात किसीकेभी स्मृतिगोचर नही हुई स्वामीजीको उसका पता कैसे मिला ? सज्जनो ! स्वामीजी महाराज परमयोगी थे ! योगाभ्यासके अतुल बलसे उन्हे अतीन्द्रिय ज्ञानकी उपलब्धि हो चुकी थी ! हम जिन बातोंका ज्ञान इन चर्मचक्षुओंसे नहीं कर सकते स्वामीजी महाराजने अपनी योगविभूतिसे उनको

प्रत्यक्ष कर लिया था ! इसलिए उनके लेखोंमें प्रमाणोंका अन्वेषण करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है । क्योंकि वे ऋषि थे ! और हम मनुष्य हैं !

अस्तु ! हमारा सभ्य संसारसे साग्रह निवेदन है कि, वह स्वामीदयानन्दसरस्वतीजीके उक्त लेखपर अवश्य ध्यान दे । एक समाजपर अकारण ही इतना भयानक असभ्य आक्षेप करना स्वामीजीके लिए कहांतक शोभास्पद है यह पाठक स्वयं विचारें । हमारे विचारमें तो आर्यसमाजके नेताओंको उचित है कि, वे सत्यार्थप्रकाशमेंसे उक्त लेखकोतो अवश्यही निकालडालें। इस प्रकारके आरोपी मिथ्या लेखोंसे स्वामी दयानंद सरस्वतीजीकी प्रतिष्ठा नहीं प्रत्युत उसकी हानिकी ही संभावना है ! अब प्रकाशका जमाना है ! ! अंधेर सदाके लिए नहीं रहता ! ! !

सज्जनो ! जैनधर्मके संबंधमें स्वामी दयानंद सरस्वतीजीने जो उद्गार निकाले हैं उनका यह नमूना मात्र आपकी सेवामें निवेदन किया गया है । इसपर निष्पक्ष भावसे विचार करना अब आपका कर्त्तव्य है । क्योंकि निष्पक्ष भाव ही मनुष्य जीवनका सच्चा उद्देश है । जब तक मनुष्यके हृदयसे "मेरा सो सच्चा" निकलकर "सच्चा सो मेरा" इस विचारकी स्थिरता न हो तब तक जीवनके वास्तविक लक्षसे वह कोसों दूर है। अस्तु ! अब हम इस लेखको मध्यस्थ भावसे अवलोकन करनेके लिए सभ्य पाठकोंसे निवेदन करते हुए अपनी लेखिनीको विराम देते हैं । शिवमस्तु सर्वजगतः ।

इति मध्यस्थवाद ग्रन्थमालायाः प्रथमं पुष्पम् ।

विमल विनोद

बस नाम हीसे आनंद देनेवाली यह पुस्तक है सचमुच ही पढनेवालेको विमल भी करती है और विनोद भी देती है। आजकल उपन्यासके शोकीन ज्यादा नजर आते हैं। बस उनके ही लिए यह पुस्तक समझिए। इसमें उपन्यासके ढंगसे आर्यसमाजके नेता स्वामी दयानंद सरस्वतीजीकी शिक्षाका अच्छा चित्र खींचा है। बस हास्यरसका कटोरा ही समझिए एक दफा हाथमें लिया कि पूर्ण किये विना चैन न पडेगी.

मूल्य दश आना

मिलनेका पता—

श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल

रोशन महल्ला—आगारा।

मिलनेका पता—

पंडित-हीरालाल

मैनेजर-श्री आत्मानन्द जैन

बाजार अमावुर